वर्ष ६, अंक १ जनवरी १९९०

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण,
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, रामेशचन्द्र शाह

दर्शन प्रतिष्ठान जयपुर

1

भाषा और अनुभूति×

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के विषय में ऐसा मानने की एक लम्बी परम्परा है कि उन्हें भाषाई रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इस से मिलती-जुलती मान्यता कुछ इस प्रकार की भी है कि उन्हें व्यक्त करने वाली भाषा केवल अनुभव करने वाला ही समझ सकता है। दोनों अवस्थाओं में अनुभूति की संप्रेषणीयता पर प्रश्न चिह्न लगता है। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य इन मान्यताओं की सार्थकता तथा प्रामाणिकता की जांच करना है।

सर्वप्रथम यह ध्यान देने योग्य बात है कि अनुभूति की संप्रेषणीयता का प्रश्न एक व्यापक धरातल रखता है। यह इस बात से सम्बन्धित है कि 'अनुभूति' से हमारा क्या अभिप्राय है। सुख-दुःख की अनुभूति, पीड़ा और प्रसन्नता की अनुभूति, अर्थात् संवेगों तथा संवेदनाओं की अनुभूतियाँ, साहित्यिक अथवा कलात्मक सन्दर्भ में रसानुभूति, एवं आध्यात्मिक प्रसंग में तत्त्व-बोध अथवा विभिन्न योग सम्बन्धी स्थितियों का अनुभव—इन सब को 'अनुभूति' के व्यापक प्रयोग में समेटा जा सकता है। इस के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इन सभी प्रकार के बोधों का निर्देश व्यक्ति की किसी अन्तःस्थिति की ओर है जिनका वह स्वयं ही साक्षी होता है। यहाँ 'अनुभूति', 'बोध', 'अनुभव' का लगभग पर्यायवाची प्रयोग हुआ है, और इस प्रयोग पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ये वास्तव में पृथक् विशिष्ट शब्द हैं तथा उन्हें किसी एक ही कोटि का मानना भ्रामक है। इस आपत्ति को स्वीकार करते हुए भी ऐसा कहना ग़लत नहीं होगा कि उनका किन्हीं सन्दर्भों में पर्यायवाची प्रयोग साधारण प्रयोग के विरुद्ध नहीं पड़ता। हिन्दी में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक है। 'अनुभव' अन्तःस्थितियों तथा बाह्य विषयों दोनों से सम्पृक्त होता है। इसके विपरीत अनुभूति का निर्देश केवल अन्तःस्थिति की ओर ही होता है।

× इस निबन्ध में जिस स्थापना की ओर जाना है उसके परिप्रेक्ष्य में 'अनुभव' शब्द की व्यापकता एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु का निर्देश करती है जो विज्ञानवाद अथवा पश्चिमी आइडियलिज़्म के निकट है।

'अन्तःस्थिति' की अवधारणा स्पष्टतया यह निर्दिष्ट करती है कि जिस व्यक्ति से उसका सम्बन्ध है वही उसका साक्षी हो सकता है। इसके विपरीत बाह्य स्थिति अथवा विषय में यह अनुस्यूत है कि वह सार्वजनिक साक्ष्य का विषय है। बोध अथवा ज्ञान तथा सम्प्रेषण विषयानुभूति को भाषा के सन्दर्भ में ले आते हैं। 'मेरे सिर में दर्द है' अथवा 'वह गुलाब है'—ऐसे वाक्यों के द्वारा एक व्यक्ति अपने बोध अथवा अनुभव का ही सम्प्रेषण करता है।

साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि 'गुलाब' सम्बन्धी वाक्य का संप्रेषण तथा उसका सत्यापन जिस प्रकार तथा जिस सीमा में संभव है उसी रूप में वह 'दर्द' सम्बन्धी वाक्य में संभव नहीं है। दर्द की ओर निर्देश नहीं किया जा सकता, जबकि गुलाब की ओर निर्देश किया जा सकता है। जिस प्रकार गुलाब का चित्र बनाया जा सकता है क्या उसी प्रकार दर्द का चित्र बनाया जा सकता है? 'सिर में दर्द है' यह असत्य हो सकता है पर इस को दूसरा व्यक्ति किस प्रकार सिद्ध करेगा? 'वह गुलाब है', इस बात के असत्य अथवा सत्य की जांच दूसरा व्यक्ति सहज ही कर सकता है। इस प्रकार का भेद बाह्य वस्तुओं या विषयों के क्षेत्र से अन्तरनुभूति या संवेदना के क्षेत्र को अलग कर देता है।

यह तो ठीक लगता है कि किसी के सिर में दर्द है या नहीं, यह किसी दूसरे व्यक्ति के लिये तय करना समस्यामूलक होता है परन्तु वह ऐसा तय कर सके अथवा नहीं इसके लिये यह अपेक्षित है कि वह इस वाक्य का अर्थ समझता हो कि 'मेरे सिर में दर्द है।' परन्तु इस वाक्य में 'दर्द' से क्या आशय है, इसे कोई व्यक्ति किस प्रकार समझ पाता है? यदि वह 'दर्द' शब्द का प्रयोग करता है तो वस्तुतः उसका आशय क्या है? इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग कोई किस प्रकार सीखता है? क्या इस प्रकार के प्रश्न 'दर्द' जैसे शब्दों के विषय में ही उठते हैं? 'वह गुलाब है' यहाँ 'गुलाब' की समझ अथवा 'गुलाब' शब्द के प्रयोग को कैसे ग्रहण किया जाता है? इसके उत्तर में कहा जायगा कि यदि कोई किसी फूल को देखता है और कहता है कि 'वह फूल है' तो वह उस फूल के नाम से पहले से अवगत है, वह उसे पहचानने की योग्यता रखता है, कदाचित् वह उसका निरूपण करने की क्षमता रखता है। उस वस्तु अथवा उसके निरूपण के लिये किस नाम का प्रयोग किया जाय, यह वह समझता है। क्या ऐसे ही उत्तर हमें 'दर्द' के विषय में उठाये गये प्रश्नों के सम्बन्ध में उपलब्ध हैं?

यहाँ यह बात ध्यान में लानी होगी कि हिन्दी भाषा का प्रयोग करने वाले 'दर्द' शब्द से परिचित हैं तथा वे इस बात को समझते हैं कि 'दर्द' का प्रयोग कहाँ तथा कब किया जाना चाहिए। वस्तुतः हिन्दी भाषा से परिचित होना तथा 'दर्द' शब्द के प्रयोग को समझना अभिन्न रूप में सम्बन्धित हैं। इस पूर्व परिचय के कारण 'दर्द' के सम्बन्ध में ऊपर उठाए गये प्रश्न व्यर्थ श्रम उठाने जैसे लग सकते हैं। परन्तु जैसा सन्दर्भ से स्पष्ट होना चाहिए यहाँ बात केवल 'दर्द' शब्द की न होकर उसके जैसे सभी ऐसे शब्दों के विषय में हो रही है जो अन्तरनुभूति, संवेदना आदि के सूचक हैं।

इस सन्दर्भ में लोक में दो विपरीत स्थितियों को लक्षित किया जा सकता है। एक ओर तो साधारण स्तर पर हम एक-दूसरे की संवेदनाओं, भावों तथा अनुभूतियों को समझते हैं : कोई उदास दीखता है, दुःखी जान पड़ता है, प्रसन्न होता है, तो यह बहुधा जांच की बात प्रतीत नहीं होती। ऐसी स्थितियों में ऐसी भावप्रवण अवस्थाओं का हमें सहज ही बोध होता है तथा प्रतिक्रियास्वरूप हम इन अवस्थाओं में ग्रस्त व्यक्ति से यह पूछ बैठते हैं कि वह 'उदास क्यों है', 'क्यों दुःखी है', अथवा 'प्रसन्नता का क्या कारण है ?' 'उदास', 'दुःखी', 'प्रसन्नता' शब्दों के प्रयोग को लेकर भी कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती। एक ही भाषा-समाज के सदस्यों के बीच सम्प्रेषण को लेकर कोई समस्या उपस्थित नहीं होती।

दूसरी ओर, जैसा आरम्भ में ही संकेत किया गया है, एक दूसरी स्थिति इस प्रकार की प्राप्त होती है कि एक ही भाषा-समाज के सदस्यों के बीच भी सफल सम्प्रेषण नहीं हो पाता। वे एक-दूसरे के भावों को नहीं समझ पाते। भावों की कृत्रिम अभिव्यक्ति व्यक्ति के अन्तर पक्ष को गोपनीय रखती है। संवेगों तथा भावों के अतिरिक्त किसी गायक अथवा साहित्यिक की अनुभूति को लें, किसी रहस्यवादी अथवा अध्यात्मवादी के अनुभव को ल, तब तो सम्प्रेषण की समस्या और विकट हो जाती है। ये स्थितियाँ व्याख्याओं तथा अर्थ-उद्घाटन के जटिल तथा अनन्त अभ्यासों को जन्म देती हैं। इसी प्रकार की बातें कुछ बदले हुए रूप में, सामाजिक अवधारणाओं तथा नवीन या अभिनव ज्ञान के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं।

दार्शनिक बोध इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक स्थिति से सक्रियता पाता है। ऐसी शंका होने लगती है कि एक ही विषय के सम्बन्ध में दो विरोधी पक्ष किस ओर संकेत करते हैं ? उनको समष्टि रूप में किस प्रकार एक साथ ग्रहण किया जा सकता है ? क्या इस प्रकार द्वन्द्व अथवा विरोध हमारे कम अन्वेषण अथवा समझ के फल होते हैं याकि इस प्रकार की स्थितियाँ वास्तविक होती हैं ? इसी प्रसंग में एक दूसरी बात ध्यातव्य यह है कि बाह्यार्थ ज्ञान तथा अन्तरनुभूति का ज्ञानमीमांसीय विरोध जड़-चेतन के सत्तामूलक द्वैत से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। ज्ञानमीमांसीय विरोध की आत्यन्तिकता सत्तामूलक आत्यन्तिकता को पुष्ट करती है। निबन्ध के आगामी क्रम में प्रथम इस बात पर विचार करने का प्रयास होगा कि बाह्यार्थ का बोध अथवा ज्ञान क्या इतना ही स्पष्ट, सुनिश्चित तथा सार्वजनिक होता है जितना साधारणतया समझा जाता है, क्या बाह्यार्थ की पहचान का प्रश्न सहज ही समाधेय होता है, क्या उसके निरूपण में किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता और क्या वस्तुओं के लिये संज्ञाओं का प्रयोग कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता ? इसके बाद यह देखने का प्रयास होगा कि अन्तरनुभूति के क्षेत्र में नितान्त विपरीत स्थिति प्राप्त होती है याकि मिलती जुलती, अथवा वैसी ही ?

प्रथम चरण लें। 'वह गुलाब है' इस सरल कथन पर विचार करें। यह कथन अनेक अवस्थाओं में प्रयुक्त हो सकता है तथा उन विभिन्न सन्दर्भों में उसका कार्य अलग-अलग प्रकार से निर्धारित हो सकता है। यहाँ इस कथन की प्रथम उपस्थिति एक अनिश्चित प्रदत्त का रूप रखती है। उसका स्वरूप तथा कार्य स्पष्ट नहीं होने से वह निर्धारण का विषय है। किसी प्रसंग में उसे किसी अन्य भाषा में अनुवाद के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है।

व्याकरण या तर्क की दृष्टि से वह वाक्यों के किसी प्रकार अथवा उनकी किसी कोटि का उदाहरण हो सकता है। इन विभिन्न संभव सन्दर्भों को गिनाने के स्थान पर हम अपने सन्दर्भ को स्पष्ट कर सकते हैं। वर्तमान प्रसंग में हम इस कथन को इस प्रश्न के उत्तर के रूप में ग्रहण कर रहे हैं कि 'वह कौन सा फूल है ? इस प्रकार यह इस दूसरे प्रश्न का उत्तर भी हो सकता है कि 'वह क्या है।' कदाचित् इन दोनों प्रश्नों में भेद इस वाक्य के किन्हीं और सन्दर्भों का उद्घाटन करे।

प्रश्नकर्त्ता यह तो जानता है कि कोई वस्तु है जो फूल है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि उस फूल को लोग किस नाम से जानते हैं। यह उत्तर मिल जाने पर कि 'वह गुलाब है' उसने फूल के विषय में क्या जाना ? तथा जो कुछ उसने जाना उसका भविष्य में वह क्या उपयोग कर सकता है ? (ये प्रश्नोत्तर किन्हीं वनस्पतिशास्त्र-विदों के बीच न होकर साधारण व्यक्तियों के बीच हुए मानें) प्रश्नकर्त्ता को जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ वह वस्तु कोई आकार रखती है, उसका कोई रंग है, और पत्तियों, शाखाओं से अलग वह फूल है। प्रश्नकर्त्ता का यह पूर्व ज्ञान है। इसको अभिव्यक्त करने के निमित्त उसे 'आकार', 'रंग' 'पत्ती', 'शाखा' आदि शब्दों का प्रयोग करना होगा, कदाचित् ये प्रयोग भी उसने उसी प्रकार सीखे हों जैसे वह अब 'गुलाब' शब्द के प्रयोग से परिचित हुआ है। उसके ज्ञान में यदि कोई वृद्धि हुई है तो वह यह कि जो कुछ उसके प्रत्यक्ष का विषय है वह किस शब्द के द्वारा पहचाना जाय अथवा दूसरों से अलग समझा जाय। भविष्य में जब भी वह वर्तमान विषय से मिलते-जुलते विषय को देखेगा तो उसे 'गुलाब' शब्द का स्मरण होगा। यदि कोई उससे उसके विषय में प्रश्न करेगा तो वह इस शब्द का प्रयोग करेगा।

इस प्रकार की स्थिति में एक विशेषता यह है कि विषय प्रश्नकर्त्ता तथा उत्तर देने वाले दोनों के सम्मुख उपलब्ध है। प्रश्नकर्त्ता वस्तु की ओर निर्देश करके, इंगित करके अपना प्रश्न कर सकता है तथा उत्तर देने वाला उत्तर देते समय यह जानता है कि वस्तु के विषय में यह प्रश्न किया गया है। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि प्रश्नकर्त्ता को उत्तर देने वाले पर विश्वास है। उसे यह शंका नहीं है कि उत्तर देने वाला उस से उपहास कर रहा है, उसे धोखा दे रहा है, उसे ग़लत सूचना दे रहा है, अथवा अपना अज्ञान छिपा रहा है। इस तथ्य से प्रश्नोत्तर-व्यापार एक ही भाषा-समाज के सदस्यों के परस्पर आदान-प्रदान का संकेत देता है तथा सम्प्रेषण की एक अपेक्षा की ओर ध्यान आकर्षित करता है।

संभव है प्रश्नकर्त्ता यह जानने पर कि अमुक फूल को गुलाब कहा जाता है, यह जानना चाहे कि अमुक फूल को गुलाब क्यों कहा जाता है ? तब उत्तर का एक रूप तो यह हो सकता है कि 'अमुक-अमुक विशेषताओं से युक्त फूल को गुलाब कहा जाता है, इस फूल में वे विशेषताएं हैं, अतः इसे गुलाब कहते हैं।' उत्तर का दूसरा रूप एक दूसरे प्रकार की जिज्ञासा से सम्बन्धित है कि "अमुक-अमुक विशेषताओं से युक्त वस्तु को 'गुलाब' ही क्यों कहा जाता है ?" इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में नामकरण की विभिन्न रीतियों में नितान्त यादृच्छिकता-परक रीति अनेक में से एक है तथा कोई उपयुक्त उत्तर संभव नहीं होने पर हमें उसका आश्रय

लेना पड़ता है। हम कहते हैं 'ऐसा ही सुनते आये हैं', 'लोग ऐसा ही कहते हैं' 'ऐसी ही प्रथा है', इत्यादि। वर्तमान प्रसंग में नामकरण की विभिन्न रीतियों का उल्लेख अथवा उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

इस दूसरे प्रश्न से हमें वस्तु के वर्णन की ओर ध्यान देना होता है। उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चा से वस्तु के जानने के विषय में, उसकी पहचान, उसके वर्णन, तथा इन सन्दर्भों में अभिव्यक्ति विशेष की बात हुई है। साथ ही इस प्रकार की स्थिति में सार्वजनिकता का सन्दर्भ स्पष्ट हुआ है। अब अन्तरनुभूति अथवा संवेदन का प्रसंग लें तथा उस पर तुलनात्मक रूप में विचार करें। कोई किसी से पूछता है 'तुम्हें क्या हो रहा है?' उत्तर मिलता है 'मेरे सिर में दर्द है।' उत्तरदाता से प्रश्नकर्त्ता ऐसा प्रश्न तभी कर सकता है जब वह उत्तरदाता को सामान्य स्थिति से भिन्न स्थिति में देखता है। प्रश्न किया जा सकता है कि सामान्य स्थिति से क्या आशय है? हम यहाँ इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास नहीं करेंगे। हम यह मानकर चल रहे हैं कि हमारे पाठक इस बात से परिचित हैं कि सामान्य स्थिति से क्या आशय लिया जा सकता है। प्रश्नोत्तर के सन्दर्भ में बात को आगे बढ़ाते हुए, यह सुनने पर कि उत्तरदाता के सिर में दर्द है, प्रश्नकर्त्ता अनेक प्रतिक्रियाएं कर सकता है जिन में से एक यह सलाह देना हो सकती है कि 'तो एस्प्रो की गोली लो।' यहाँ दार्शनिक कुतूहल का आरम्भ होता है।

तो प्रश्नकर्त्ता को यह विश्वास है कि उत्तरदाता के सिर में दर्द है। संभवतः उत्तरदाता प्रश्नकर्त्ता को टालना चाहता है, उससे कोई बात नहीं करना चाहता है, बात समाप्त करने के लिये कहता है 'मेरे सिर में दर्द है।' तब? दूसरी ओर प्रश्नकर्त्ता कुछ देखता है, तथा उसे असामान्य पाने पर प्रश्न करता है, उत्तर सुनने पर सलाह देता है, जिससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वह 'दर्द' शब्द का अर्थ समझता है, परन्तु यदि उत्तरदाता झूठ बोल रहा है तो जिस असामान्य स्थिति का वह प्रदर्शन कर रहा है (क्या वह प्रदर्शन कर रहा है, अथवा उसके बिना किसी प्रयास के वैसी स्थिति उत्पन्न हुई है?) उसे प्रश्नकर्त्ता ने 'दर्द' की स्थिति कैसे मान लिया है? विज्ञापन के लिए किसी व्यक्ति को विशेष प्रकार से मुँह बनाने के लिये कहा जाता है तथा उसे गोली विशेष खाते हुए दिखलाया जाता है, तथा पीछे आप उसे तनाव-रहित तथा मुस्कराता हुआ पाते हैं। उसे देखकर हम ऐसे कहते हुए भी कि उसके सिर में दर्द है, जानते हैं कि उस के सिर में दर्द नहीं है। इसी प्रकार की बात नाटक में अभिनय के सन्दर्भ में भी देखी जा सकती है।

विचार की बात यह है कि चाहे विज्ञापन की स्थिति हो अथवा अभिनय की, इन सन्दर्भों में हम इस बात से परिचित हैं कि ऐसी अवस्थाओं में जैसा दीख रहा है वस्तुतः वैसा कुछ नहीं है। परन्तु जहां कोई हमें धोखा दे रहा है, वहाँ? हमें कब और कैसे पता चलता है कि वह धोखा दे रहा है? यदि कोई कहता है 'मेरे सिर में दर्द है' और उसे दर्द की दवा के रूप में कोई औषधि दी जाती है और वह उसे खाने से बचने की कोशिश करता है, हमारी उपस्थिति के न रहने पर वह प्रसन्न और साधारण रहता है (स्पष्ट है, इस बात की पुष्टि किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा होगी), इत्यादि अवस्थाओं में हमें पता चलता है कि 'मेरे

सिर में दर्द है' कहने वाला हमें सही बात नहीं बता रहा था। इन बातों के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि, जैसा विट्गेन्श्टाइन ने बताने का प्रयास किया है, किसी वाक्य के प्रयोग का एक पूरा परिवेश होता है, उसमें कुछ अन्य वाक्यों का प्रयोग हो सकता है, तथा उस परिवेश में कुछ बातें अंगभूत रूप में शामिल होती हैं। इस परिवेश से ही वाक्य का अर्थ अथवा उसका आशय प्रकट होता है, या समझा जा सकता है।

'मेरे सिर में दर्द है' वाक्य में 'दर्द' शब्द के प्रयोग के सन्दर्भ में, कहने वाला कैसी भंगिमाएं प्रदर्शित कर रहा है उसका व्यवहार क्या है ये सब सार्वजनिक प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। इसी प्रकार कोई नाटक देखते समय अनेक दर्शक इस प्रकार की भाव-भंगिमाओं का प्रत्यक्ष करते हैं। स्पष्ट है कि जिस अनुभूति को हम दर्द की अनुभूति कहते हैं उसका प्रत्यक्ष उन भंगिमाओं के प्रत्यक्ष के सदृश नहीं होता। वह किसी अन्य प्रकार से भी संभव नहीं है। फलतः हम यह कहने के लिये बाध्य होते हैं कि जिस प्रकार 'गुलाब' का प्रत्यक्ष होता है उस प्रकार अनुभूति का प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल जिसे अनुभूति होती है वही यह कहने अथवा बताने की स्थिति में होता है कि उसे अमुक अनुभूति हो रही है।

परन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी किसी अनुभूति को 'दर्द' की संज्ञा देता है, तो वह यह किस प्रकार जानता है कि वह सही शब्द का प्रयोग कर रहा है? कब कोई अन्य व्यक्ति यह कहने की स्थिति में होता है कि अमुक व्यक्ति 'दर्द' शब्द का उपयुक्त प्रयोग कर रहा है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रयोक्ता के जीवन में कभी कोई अवसर आया होगा जब पहली बार उसने 'दर्द' शब्द का प्रयोग सुना हो तथा सीखा हो। बाह्य वस्तु के विषय में कोई किसी से प्रश्न कर सकता है कि 'वह क्या है' और उत्तर में कि 'वह अमुक है' एक नया शब्द तथा उसका उपयोग वह दोनों सीखता है। परन्तु अन्तरनुभूति के सन्दर्भ में कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से यह प्रश्न नहीं करता कि 'मुझे कैसा लग रहा है?' किन्तु यदि ऐसी विचित्र स्थिति उपस्थित हो जाय कि कोई इस प्रकार का प्रश्न कर बैठे तब दूसरा उसका उत्तर किस प्रकार देगा? क्या वह उत्तर देने में समर्थ होगा?

प्रथम अवसर पर अपनी अनुभूति को क्या अनुभवकर्त्ता स्वतः ही नाम देता है? क्या नामकरण की यह प्रक्रिया नितान्त यादृच्छिक होती है? क्या इस प्रक्रिया में **उपलब्ध** शब्द से काम लिया जाता है अथवा लिया जा सकता है? पुनश्च, 'दर्द' की अनुभूति को लें। मान लें कि पहली बार सिर में 'दर्द' होने पर कोई बार-बार सिर की ओर हाथ ले जाता है, माथे को अथवा सिर के किसी भाग को दबाता है, पीड़ा से कराहता है, और ऐसा कुछ होने पर कोई दूसरा कहता है कि 'क्या सिर में दर्द है?' क्या इस प्रकार 'दर्द' शब्द का परिचय मिलता है? अथवा, किसी व्यक्ति को इसी प्रकार की असामान्य स्थिति में देखने पर तथा इस अवस्था में उसके इस प्रकार चीत्कार करने पर कि 'सिर में दर्द है' 'दर्द' शब्द के प्रयोग का पता चलता है? अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं जिन में 'दर्द' शब्द का परिचय हो एवं प्रयोग का पता चले। इन्हीं स्थितियों में भाषा सीखने की साधारण रीति को भी ले सकते हैं।

दर्द की अनुभूति की चर्चा में अनुभूति के सम्बन्ध में कुछ बात अस्पष्ट रह जाती है। दर्द की अनुभूति का एक बहिरंग है जो किसी सीमा में उसे अन्य व्यक्तियों को पहचानने में मदद करता है। यद्यपि ऐसी स्थितियां हो सकती हैं कि पीड़ित व्यक्ति इतना सहनशील तथा गंभीर हो कि वह उस अनुभूति को अभिव्यक्त नहीं होने दे, इसके अतिरिक्त दर्द भांति-भांति का हो सकता है। तब हमारी समस्या अधिक जटिल हो जाती है। यदि ऐसा होता कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अनुभूति के लिये किसी यादृच्छिक चिह्न अथवा शब्द को गढ़ लेता तब इस प्रकार के शब्द के अर्थ और प्रयोग को समझना कठिन हो जाता। इस अवस्था में भी एक प्रश्न यह तो उठता ही है कि कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को किस प्रकार पहचानता है, उसे वह अन्य अनुभूतियों से अलग पहचानने में किस प्रकार समर्थ होता है, वह कैसे जानता है कि अमुक अनुभूति वही अनुभूति है ?

ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु ये हमें एक दूसरी दिशा में ले जायेंगे। वस्तुतः हमारी समस्या उस स्थिति से सम्बन्धित है जब इन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्राप्त हो जाती है। प्रश्न यह है कि क्या ये अभिव्यक्तियाँ सार्वजनिक हैं, इस अर्थ में कि इन्हें सुनने या जानने पर दूसरा व्यक्ति यह समझ लेता है कि वक्ता किस अनुभूति को अभिव्यक्त कर रहा है ? इसके विपरीत क्या यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दूसरा व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता ? यद्यपि मानवीय सम्बन्धों तथा परस्पर व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग ऐसी अभिव्यक्तियों की सार्वजनिक सम्प्रेषणीयता की अपेक्षा रखता है। कल्पना कीजिए कि यदि कोई रोगी अपनी अनुभूतियों के विषय में चिकित्सक को न बता सके अथवा चिकित्सक उसकी अभिव्यक्ति को ग्रहण नहीं कर सके तो क्या स्थिति होगी ? साहित्य के क्षेत्र में रसास्वादन इस बात पर आश्रित होता है कि पाठक लेखक की कृति के द्वारा लेखक के अनुभव के निकट पहुंच सके। (इस में कोई सन्देह नहीं कि यहाँ कृति की व्याख्या को लेकर अनन्त विवाद हो सकता है, परन्तु इस स्थिति के रहते हुए भी अधिक उपयुक्त, वैध, प्रभावशाली व्याख्या की बात भी होती है)। यह सब होते हुए भी ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति को लगता है कि वह अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये भाषा की उपलब्ध सामर्थ्य का आश्रय नहीं ले सकता। फिर भी किसी न किसी रूप में वह उसे अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है। तब क्या यह कहना चाहिए कि अपनी अभिव्यक्ति को केवल वह स्वयं ही समझता है ?

विट्गेन्स्टाइन ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यदि यह अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से की गई है तो वह इस अर्थ में स्वगत अभिव्यक्ति नहीं हो सकती कि उसे कोई अन्य व्यक्ति समझ नहीं सकता। ऐसा हम तभी सोचते हैं जब हम भाषा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्षों की ओर ध्यान नहीं देते। पहली बात तो यह कि भाषा अपनी प्रकृति से ही कोई व्यक्तिगत चीज़ नहीं होती, दूसरे यह कि जब भी कोई भाषाई प्रयोग होता है तब उस प्रयोग की सार्थकता उस परिवेश पर निर्भर होती है जिस में वह घटता है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि जो कुछ कोई व्यक्ति कहता है वह उसकी भाषा की सामर्थ्य

तथा सीमा से कितना ही बाहर क्यों न प्रतीत हो, उसे अन्ततः अपनी भाषा की शक्ति पर ही निर्भर करना पड़ता है ।

विट्गेन्स्टाइन का स्पष्टीकरण भाषा के महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा उसके स्वरूप पर तो प्रकाश डालता है परन्तु उस में भाषाई सृजन एवं गत्यात्मक पक्ष की अवेहलना हो गई है । विट्गेन्स्टाइन की विस्तृत व्याख्या मुख्य रूप में इस बात पर आश्रित है कि भाषा का पहले से ही समृद्ध भण्डार उपलब्ध है, तथा किसी सीमा में यह मान्यता अभी भी विद्यमान जान पड़ती है (भाषा के खेल की कल्पना के रहते हुए भी) कि शब्दों के निश्चित अर्थ, या कहें उपयोग, होते हैं । इन बातों को स्वीकार करते हुए भी भाषा-व्यापार को ध्यान में रखते हुए यह भी मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि नये शब्द गढ़े जाते हैं, गढ़े जा सकते हैं तथा उपलब्ध शब्दों को नये सन्दर्भ, नये प्रयोग दिये जा सकते हैं ।

अभिनव अभिव्यक्ति आपाततः सम्प्रेषण के लिये समस्यामूलक हो सकती है परन्तु उस से यह सिद्ध नहीं होता कि उसे केवल प्रयोगकर्त्ता ही समझता है । स्पष्ट है कि यदि प्रयोगकर्त्ता सम्प्रेषण में रुचि रखता है तो उसकी सम्प्रेषण-प्रक्रिया उसके मनोरथ के अनुरूप होनी चाहिए तथा इसके लिये वह जिन चिह्नों (संकेतों) का प्रयोग करेगा वे या तो भाषा के अन्तर्गत ही व्याख्येय और ग्राह्य होने चाहिएं अथवा उनका व्यवहार भाषा के सदृश ही होना चाहिए ।

यहाँ अनुभूति/अनुभव, अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण के सम्बन्ध में एक दूसरी तरह से विचार करें । अनुभूति/अनुभव (यहां दोनों शब्दों के युगपद् प्रयोग के पीछे व्यक्ति के किसी भी विषय से अवगत और प्रभावित होने की स्थिति अभिप्रेत है, चाहे वह विषय आन्तरिक हो अथवा बाह्य) के अनभिव्यक्त पक्ष को विषय के प्रति एकाकी रूप में उन्मुख होने के रूप में ले सकते हैं । कोई व्यक्ति दुखी है, पीड़ित है, कुछ सोच रहा है, किसी समस्या में उलझा है, किसी भोज्य पदार्थ का स्वाद ले रहा है, अथवा इन्द्रधनुष देख रहा है । सभव है इन में से किसी भी अनुभव के अवसर पर उस व्यक्ति के पास कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हो । तब कहा जायगा कि वह जिस स्थिति में भी है उसमें कोई दूसरा भागीदार नहीं है । परन्तु मान लीजिए कोई दूसरा व्यक्ति भी उसके पास अथवा उसके साथ है । क्या उस अवस्था में यह कह सकते हैं कि वह इस व्यक्ति के अनुभव में भागीदार है ?

यह दूसरा व्यक्ति यह देखता है कि कोई मुँह लटकाए बैठा है, हाय हाय कर रहा है, किसी स्थिर मुद्रा में मौन बैठा है, माथा पकड़े मेज़ पर कागज़ के सामने कलम लिये बैठा है, कुछ खा रहा है, अथवा आकाश की ओर देख रहा है । इस प्रकार के प्रत्यक्ष के आधार पर वह कुछ अनुमान भी कर सकता है कि यह कोई किसी अनुभव से गुज़र रहा है, परन्तु क्या वह उसके अनुभव में भागीदार भी है ? स्पष्ट है कुछ खाते समय वह स्वाद ले रहा होगा पर दूसरे व्यक्ति को स्वाद की, उसी भोज्य पदार्थ के स्वाद की, अनुभूति नहीं होती । कुछ अन्य बातें हो सकती हैं । जैसे, दूसरे व्यक्ति को उस अवसर का स्मरण हो सकता है जब उसने भी वैसा ही भोज्य पदार्थ खाया हो, वह इसे दुखी देख कर दुखी भी हो सकता है, उस से उसे

सहानुभूति हो सकती है, उसकी तरह ही आकाश की ओर देख सकता है, परन्तु क्या उसकी अनुभूति वही होगी जैसी उस दूसरे व्यक्ति की ? स्पष्ट है कि नहीं ।

दूसरे शब्दों में, एक ओर तो यह कहा जा सकता है कि दूसरा व्यक्ति किसी व्यक्ति की अनुभूति/अनुभव में भागीदार नहीं हो सकता, तथा दूसरी ओर ऐसा मानते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उसे अन्य व्यक्ति से सहानुभूति हो सकती है, वह किसी सीमा में यह जान लेता है कि किसी को क्या हो रहा है, अथवा वह किस रूप में व्यस्त है । यह अवस्था उन अवसरों का चित्र भी हो सकती है जिनमें कोई भाषाई अभिव्यक्ति नहीं हुई हो । परन्तु भाषाई अभिव्यक्ति के होने पर एक तरफ़ तो कोई अपनी अनुभूति/अनुभव को व्यक्त कर सकता है, दूसरे को बताने का प्रयास कर सकता है तथा दूसरा व्यक्ति किसी के अनुभव के विषय में और अधिक सुनिश्चित रूप में जान सकता है ।

भाषाई अभिव्यक्ति के माध्यम से कोई अपनी अनुभूति/अनुभव को दूसरे को सम्प्रेषित कर सकता है । परन्तु अनुभूति/अनुभव के सम्प्रेषण में भाषा की मध्यस्थता अनेक अवसरों पर सहायक रूप में सम्पन्न होती है तो अनेक बार इस व्यापार में अवरोध आ जाते हैं । इन अवरोधों में एक कारण अभिव्यक्ति का अनुभूति/अनुभव के अनुरूप नहीं होना है । हम उन अवसरों की बात नहीं करना चाहते जब व्यक्ति भाषा के प्रयोग में अनभिज्ञ होता है, अथवा सामान्य दक्षता नहीं रखता । जहाँ दो व्यक्ति अपनी भाषा से सामान्य परिचय रखते हैं वहाँ सम्प्रेषण के सफल रूप में सम्पन्न नहीं होने के अवसरों में, अभिव्यक्ति तथा अनुभव के बीच व्यवधान की बात की जा सकती है । परन्तु इस व्यवधान के होने का क्या मतलब है ? अनुभव तथा अभिव्यक्ति की परस्पर संगति या अनुरूपता से क्या आशय है ?

बहुधा इस प्रश्न का उत्तर हम तथाकथित बाह्यार्थ के प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में हमें जो अनुभव होता है उसे सामने रख कर देने का प्रयास करते हैं । 'वह गुलाब है' इस वाक्य में तथा जो वस्तुस्थिति है उसमें हमें साम्य या अनुरूपता लक्षित होती है । अंग्रेज़ी भाषा में 'दैट इज़ अ रोज़' भी स्थिति विशेष के सन्दर्भ में परन्तु अंग्रेज़ी भाषियों के बीच उतना ही उपयुक्त वाक्य समझा जायगा । जहाँ तक भौतिक स्थिति का प्रश्न है दोनों वाक्यों में कोई समानता नहीं है ? अर्थ, वस्तुस्थिति और भाषागत विशेषताओं के आधार पर दो भाषाओं के वाक्यों में समानता दिखलाई जा सकती है । पर यह एक विवाद का विषय रहेगा कि क्या समानता पूर्ण होती है ? दो भाषाओं का प्रसंग यहाँ इसलिये उपस्थित हो गया कि वस्तु-स्थिति तथा वाक्य की संगति अथवा अनुरूपता अन्ततः यादृच्छिक अथवा किसी समाज में प्रचलित भाषाई प्रथाओं पर आश्रित होती है । अन्य शब्दों में, शब्दों के द्वारा चित्रांकन की प्रक्रिया को यदृच्छा तक ही सीमित मानना पड़ेगा । 'चित्रांकन' शब्द एक रूपक का काम करता है । संगति या अनुरूपता को चित्रांकन के रूप में देखने की सीमाएं सर्व विदित हैं ।

बाह्यार्थ के प्रसंग में हमें यह ध्यान नहीं रहता कि जो कुछ वहाँ है वह हम **प्रत्यक्ष कर रहे हैं** । हमें लगता है कि हमारे प्रत्यक्ष न करने पर भी जो वहाँ है, वह उसी स्थिति में वहाँ है । यह कुछ उसी प्रकार की बात है जैसी किसी फोटोग्राफ के विषय में देखी जाती है ।

फोटोग्राफ को देखने से फोटोग्राफर की उपस्थिति तथा फोटो लेने की प्रक्रिया आदि का पता नहीं चलता, न ही हमारा ध्यान उस ओर जाता है । परन्तु उन के बिना फोटोग्राफ नहीं बन सकता है । यहाँ आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि फोटो की भाँति वस्तुस्थिति अपने सतत (सापेक्ष अर्थ में) अस्तित्त्व के लिये प्रत्यक्षकर्त्ता पर आश्रित नहीं होती । दूसरी ओर वह फोटो की भांति प्रत्यक्षकर्त्ता के द्वारा संरचित वस्तु नहीं होती । यह सब कहना तब ज़रूरी होता है जब हम फोटो तथा प्रत्यक्ष को पूर्ण सदृश मानकर चलते हैं, जो स्पष्टतः हमारा इरादा नहीं है । यहाँ हम इस ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि जब हम किसी वस्तु की ओर निर्देश करते हुए कहते हैं कि वह अमुक है, तब हमारा उस प्रकार का कथन हमारे देखने से अभिन्न रूप से सम्बद्ध होता है । यदि कोई दूसरा हमारी बात सुनकर कहता है, 'हां, वह गुलाब है " तो किसी वस्तु का उसका प्रत्यक्ष तथा हमारा प्रत्यक्ष कदाचित् एक सी दृश्य प्रतिमाओं का संकेत करते हैं । परन्तु हमारे पास अपनी प्रतिमाओं को साक्षात् मिलाकर देखने (देखिये इस 'देखने' में क्या पुनः दृश्य प्रतिमा का प्रसंग नहीं आयेगा ?) का कोई उपाय नहीं है ।

हमारा विचार है कि दो व्यक्तियों की प्रतिमाओं के एक-समान होने के निश्चय करने में जो कठिनाई है, वही उनकी अन्तरनुभूतियों एवं विचारों के एक समान होने के निश्चय करने में मिलती है । उनमें कोई गुणात्मक भेद प्रतीत नहीं होता । इस दृष्टि से अन्तरनुभूति तथा बाह्यार्थ के अनुभव में केवल इस आधार पर भेद करना कि एक का विषय या कारण बाह्य है जब कि दूसरी का विषय या कारण आन्तरिक, व्यवहार में चाहे किसी सीमा में उपयुक्त हो, वह आत्यन्तिक रूप में ठीक नहीं हो सकता । इस दृष्टि से अभिव्यक्ति तथा अनुभूति की संगति अथवा अनुरूपता के सम्बन्ध में जो कठिनाई उपस्थित होती है वह किसी न किसी रूप में तथाकथित बाह्यार्थ के सम्बन्ध में अनुभव तथा तदनुरूप अभिव्यक्ति में भी प्रकट होती है ।

असहमति, सम्प्रेषण की असफलता, व्याख्या की समस्याएं, अनुभूति तथा अनुभव दोनों के सन्दर्भ में समान रूप से व्यक्तियों के बीच **परस्पर ज्ञान-व्यापार**, ये सब प्रसिद्ध घटनाएं हैं । चेतना अथवा बोध-कर्त्ता के समक्ष सभी विषयों की समान स्थिति है । यहाँ चेतना स्वयं एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है । इस दृष्टि से इन विषयों की अनुभूति या उनका अनुभव साक्षात्कार के रूप में केवल बोधकर्त्ता से ही सम्बद्ध है । परन्तु उसकी अभिव्यक्ति जिस माध्यम (भाषा) की अपेक्षा रखती है वह किसी के एकाधिकार की वस्तु नहीं है । कोई व्यक्ति इस माध्यम को संवार सकता है, उसमें संवर्धन कर सकता है, उसकी सामर्थ्य में वृद्धि कर सकता है, परन्तु यह सभी कुछ एक सार्वजनिक परिवेश में ही संभव है तथा सार्थक है । इस सार्वजनिक परिवेश के बाहर भाषा-सम्बन्धी इन व्यापारों का कोई भी अर्थ हो सकता है, यह नितान्त सन्दिग्ध है ।

हमने दो धारणाओं के विषय में विचार करना आरम्भ किया था । प्रथम, क्या अनुभूतियां भाषा में अभिव्यक्त नहीं हो सकतीं ? दूसरे, यदि उन्हें भाषा में अभिव्यक्त किया भी जा सके तो क्या यह भाषा संप्रेषणात्मक नहीं होती ? अपने संक्षिप्त विचार-विमर्श के फलस्वरूप दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि भाषा की अवधारणा में सम्प्रेषणीयता सन्निहित है, यद्यपि सफल सम्प्रेषण की कुछ शर्तें हो सकती हैं जो कभी पूरी होती हैं, तो

कभी पूरी नहीं होती हैं। अतः जिस भाषा में अनुभूतियाँ अभिव्यक्त की जाती हैं वह भी सम्प्रेषणीय होगी। पहले प्रश्न से यदि यह आशय लें कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के उपादान गुणात्मक रूप में भिन्न हैं और यह मानें कि भाषा और अनुभूति के किसी सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये उनमें किसी प्रकार का गुणात्मक साम्य होना चाहिए, तब अनुभूतियाँ भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकतीं। दूसरी ओर यदि हम खीर के स्वाद तथा इन शब्दों के ('खीर के स्वाद') बीच भेद को समझते हैं, तथा भाषा की सांकेतिक अथवा निर्देशात्मक प्रकृति से परिचित हैं, तब ऐसा कहने में कोई रहस्य नहीं है कि अनुभूतियों की भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति न केवल संभव ही है अपितु उसकी तथ्यता किसी आश्चर्य का विषय नहीं रहती।

आर–4, विश्वविद्यालय प्रांगण,
जयपुर, 302004

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः
भुंजन्ते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ।

(श्रीमद् भगवद् गीता, 3.13)

यज्ञ से, प्रकृति की अधिष्ठानभूत दिव्य शक्तियों को तर्पण करने से, शेष बचे अन्न का ही जो भोगार्थ ग्रहण करते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो अपने ही लिए भोजन पकाते हैं वे पापात्मा होते हैं और पाप ही का भोजन करते हैं।

सौजन्य से :

श्री अशोक गुप्ता
द्वारा–सर्वश्री बीकानेर मोटर स्टोर्स
जी० एस० रोड़, बीकानेर

2

मूल्य की वस्तुतंत्रता×

यशदेव शल्य

पिछले दो अध्यायों के सारांश के रूप में मूल्य को ऐसा वरेण्य, पर्येष्य या साध्य पद कहा जा सकता है जो पर्येषक की आत्मसाधना के फल के रूप में उपलब्ध होता है। यह पर्येषणा स्वगत अभाव के बोध और भाव की अपेक्षा के रूप में घटित होती है। यह एक ऐसी प्रदत्त स्थिति होती है जिसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु वरेण्य क्या है, कौनसा पद अभाव-राहित्य का पद है, यह एक ऐसा प्रश्न है जो सर्वाधिक दुर्विज्ञेय है और ऐसा भी जिसका ज्ञान ही मनुष्य के लिए सबसे अधिक और सबसे प्रथम जिज्ञास्य होता है। क्योंकि प्रत्येक कर्म इस मान्यता के साथ ही प्रवृत्त होता है कि कर्त्ता उस कर्म की वरेण्यता के सम्बन्ध में स्पष्ट है—यह बात दूसरी है कि वस्तुतः हम अधिकांश कर्मों की वरेण्यता-अवरेण्यता को स्वतःस्पष्टवत् मानकर चलते हैं और अन्य कर्मों में वरेण्यता-अवरेण्यता के विवेक की चिन्ता ही नहीं करते। द्रष्टव्य है कि यह अभाव-बोध अभाव की वास्तविक विद्यमानता भी होती है, यह ऐसी विषयिगत स्थिति है जो साथ ही वास्तवता भी होती है। यही बात भाव के सम्बन्ध में भी सत्य है। अभाव भाव का केवल तार्किक अपेक्षी ही नहीं होता, वास्तव अपेक्षी भी होता है, यद्यपि तार्किक अपेक्षा वास्तव अपेक्षा भी हो यह आवश्यक नहीं होता। उदाहरणतः 'दायां' 'बायें'का तार्किक अपेक्षी होता है किन्तु यह अपेक्षा वस्तु में स्वगत नहीं होती। किन्तु भूख तृप्ति की वास्तविक अपेक्षी होती है और तृप्ति की वास्तविक संभावना के बिना भूख की वस्तुस्थिति नहीं हो सकती। यही बात कर्म के अनौचित्य बोध के सम्बन्ध में अपने में, दोष-बोध और अपनी कृति में न्यूनता-बोध के सम्बन्ध में, कही जा सकती है। इस पर आपत्ति की जा

× भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की वरिष्ठ अध्येतावृत्ति (सीनियर फैलोशिप) के प्रसंग में लिखी आ रही पुस्तक "मूल्य-तत्त्वमीमांसा" का यह तृतीय अध्याय है। इसके पहले के दो अध्यायों के नाम क्रमशः "तत्त्वमीमांसा का औचित्य : सत् की भाव्यात्मकता" तथा "सृजन और सत्य" हैं। इन में प्रथम अध्याय "तत्त्वमीमांसा का औचित्य" शीर्षक से उन्मीलन के अंक 4/1 में प्रकाशित हो चुका है।

सकती है कि भूख और तृप्ति दो वस्तुस्थितियां है किन्तु तृप्तिकर वस्तु में तृप्तिकारकता का गुण उसी प्रकार स्वगत होता है जिस प्रकार रूपवान् वस्तु में वर्ण, गन्ध आदि होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात अनौचित्य, दोष, सौन्दर्य, कुरूपता आदि के लिए और भी अधिक स्पष्ट हैं। इसका उत्तर हो सकता है कि ये चित्तपरक गुण हो सकते हैं जिस प्रकार भूख और तृप्ति देहपरक गुण हैं और इस प्रकार ये एक दूसरे प्रकार के वास्तविक गुण हो जाते हैं। किन्तु जब हम मूल्यों की वास्तविकता की बात करते हैं तब हमारा यह आशय नहीं होता कि वे चित्त को विशेषित करते हैं बल्कि उनका चित्त से स्वतंत्र सत्त्व होना अभिप्रेत होता है। शैक्सपीअर के हैम्लेट की एक प्रसिद्ध उक्ति है कि "स्वयं में कुछ अच्छा या बुरा नहीं होता, ये विशेषण केवल हमारी धारणाओं के ही आरोप होते हैं।" किन्तु इसके ठीक विपरीत कालिदास ने उचित-अनुचित-विवेक में सन्देह उपस्थित हो जाने पर विषयिता को ही प्रमापक कहा है : प्रमाणमन्तः-करण प्रवृत्तयः। केवल उसने उसके लिए चित्त का सत्य-पूत होना आवश्यक माना है : सतांहि·······। किन्तु चित्त की यह सत्य-पूतता पुनः चित्त की स्वकीय अवस्था ही होती है। प्लेटो ने यह प्रश्न यूथीफ्रो संवाद में एक दूसरी तरह से उठाया है। उसमें यूथीफ्रो श्रेयस् को देवताओं की प्रियता से परिभाषित करता है। सुकरात उसे दिखाता है कि यह श्रेयस् के लिए उचित प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं देवताओं में इसके सम्बन्ध में विवाद है : इससे वह यह आपादित करना चाहता है कि श्रेयस्ता एक स्वतंत्र, अथवा कहें हमारी या देवताओं की प्रियता से स्वतंत्र : वस्तुतंत्रः सत् है।[1]

इनके ठीक विपरीत प्रोफेसर दयाकृष्ण ने मूल्यों की सत्ता या वास्तवता के प्रश्न को अप्रष्टव्य बताते हुए दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार हमारे मूल्य-निर्णय : मूल्यात्मक प्रतिज्ञप्तियां : मूल्य-संस्थान में घटित होते हैं जिस के अनुसार हम उन प्रतिज्ञप्तियों में एक अन्तःसंगति की अपेक्षा करते हैं, जो अपेक्षा गणित, विज्ञान आदि ज्ञानात्मक अन्वेषणों के क्षेत्रों को भी लक्षित करती हैं। "2+2==4" अथवा "हवा चल रही है" अध्यवसायों की क्रमशः गणितीय और वैज्ञानिक सत्यता या वास्तवता इनके किसी निरपेक्ष वस्तु-लोक में घटित होने में नहीं होती बल्कि इनके सैद्धान्तिक संस्थानों के अन्तर्गत अन्तःसंगत होने में होती है। इसी अन्तःसंगति की हम मूल्यात्मक प्रतिबद्धताओं और प्रतिपादनों में अपेक्षा करते हैं।[2] किन्तु प्रथम दो संस्थानों से तीसरे में यह मौलिक अन्तर है कि जब कि प्रथम दो के

---

1. यहां महाभारत का निम्न श्लोक तुलनीय है :

   श्रुतयः विभिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः, नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
   धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्, महाजनो येन गता सः पथः।

   इस श्लोक का चतुर्थ पाद प्रथम तीन पादों का व्याघातक है क्योंकि यह धर्म के तत्व को महाजनों के आचरण में प्रतिष्ठित कर देता है जिसे प्रथम तीन पादों में गुहा-गत स्व-तंत्रः कहा गया है। यह आश्चर्य की बात है कि महाभारतकार को महाजन श्रुति, स्मृति और ऋषियों से अतिरिक्त कोई और उच्चतर व्यक्ति प्रतीत हुए।
2. प्रोफेसर दयाकृष्ण के लेख-संकलन"दि आर्ट ऑफ दि कांसेप्चुअल"में "दि नेचर आफ वैल्यू जज्मेंट्स, पृ. सं. 171–78 (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, 1989)

अध्यवसाय और उनके संस्थान व्यक्ति-निरपेक्ष और सार्वदेश-कालिक होते हैं मूल्यात्मक संस्थान व्यक्तिगत होते हैं। इस प्रकार संस्थानात्मकता और अन्तःसंगति की अपेक्षा के आधार पर मूल्यात्मक अध्यवसायों को गणित और विज्ञान के अध्यवसायों के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। किन्तु यह तथ्य मूल्य-बोध को अवास्तविक, काल्पनिक और निराधार तथा गणित और विज्ञान के अध्यवसायों को साधार नहीं बनाता। वास्तव में जो तथ्य मूल्य-बोध को गणित और विज्ञान से तुलनीय बनाता है वह है इसमें और गणित तथा विज्ञान में भ्रान्ति की संभावना का समान रूप से होना, यद्यपि इन तीनों में इस संभावना के प्रकार और हेतु सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। बोध अथवा ज्ञान[3] में भ्रन्ति की संभावना बोध्य और ज्ञेय की स्व-तंत्रता की प्रमाण कही जा सकती है। यहां गणित की स्व–तंत्रता के प्रतिपादन पर आपत्ति की जा सकती है कि गणित के अध्यवसाय किसी स्व-तंत्र वस्तु-लोक विषयक नहीं होकर शुद्ध विकल्पों, उद्‌गृहीत विषयों और आकारिक सम्बन्धों की व्यवस्था विषयक होते हैं। किन्तु यह मत युक्त नहीं है। निश्चय ही 2 तथा 4 और इनके बीच सम्बन्ध भौतिक वस्तुविषयक नहीं होते किन्तु इससे इन्हें अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। वास्तविक की दूसरी और उपर्युक्त से अधिक आधारभूत परिभाषा "विषय-रूपेण विकल्पित" दी जा सकती है। वास्तविकता को इस प्रकार परिभाषित करने पर ही मनोविज्ञान, नृतत्वविज्ञान, इतिहास और कला–चिन्तन आदि ज्ञान कहे जा सकते हैं। वास्तव में इन्द्रिय-गोचर विषय भी वस्तुता का स्तर विषयतया विकल्पित होने के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं।

अब, विषयरूपेण सबसे आद्य और सर्वाधार रूप से विकल्पित चेतना स्वयं ही होती है। इस प्रतिपादन का औचित्य यह है कि विषय-विकल्प आत्मचेतन चेतना का व्यापार है और आत्मचेतन चेतना का अपने प्रति चेतन होना अपना स्वयं का विषय-करण करना होता है। इस प्रकार, 'यह घट है' अध्यवसाय 'मैं घट देख रहा हूं' का एक अंश है जिसका दूसरा अंश 'यह मैं हूं' है। देखना 'मैं' और 'घट' के बीच सम्बन्ध का वाचक है। अब, जितना 'घट' वस्तु है कम से कम उतना ही 'मैं' भी है। 'यह घट है' के समान ही 'दुःख एक मनोभाव है,' 'मैंने स्वप्न देखा' आदि अध्यवसाय भी होते हैं जिन में "दुःख" और "स्वप्न" आदि विषय होते हैं। यहां आपत्ति की जा सकती है 'दुःख' आदि वस्तुवाचक पद नहीं होकर विशेषण-मूलक भाववाचक संज्ञाएं हैं। किन्तु वास्तव में यह आपत्ति उचित नहीं है; क्योंकि विशेषण या गुण भी उतने ही विषय होते हैं जितने द्रव्य विषय होते हैं। न इनकी वस्तुता में ही कोई अन्तर होता है। यहां अवान्तर रूप से यह द्रष्टव्य है कि फिनॉमिनलोजीवादी दार्शनिक जो चेतना को स्वभावतः सविषया कहते हैं वह सही नहीं है, क्योंकि अनात्मचेतन चेतना सविषया नहीं होकर या तो विषयाविष्ट होती है अथवा, विषय बाह्यतः प्रस्तुत नहीं होने पर, अस्फुट, अव्यक्त भावेन, होती है। उदाहरणतः जुगाली करते बैठी गाय की

---

3. यहां 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग हम 'विषयात्मक ज्ञान' के अर्थ में कर रहे हैं

चेतना को इसी प्रकार निरूपित करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार सविषयता (इंटेंश्नेलिटी) केवल ग्रात्मचेतन चेतना की ही विशेषता है। किन्तु ग्रात्मचेतन चेतना को विषयाविष्ट के विपरीत विषय-विनिवृत्त या ग्रात्म-निर्वातित (ग्रात्मा में निर्वातित) चेतना कहना ग्रधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। निश्चय ही मनुष्य में चेतना की विनिवृत्तता के स्तर-क्रम ही मिलते हैं, पूर्ण विनिवृत्तता संभवतः ग्रलभ्य या पार्यन्तिक स्थिति ही होती है, किन्तु जिस सीमा तक चेतना ग्रात्मनिर्वातित होती है उस सीमा तक ही इसके विषय स्फुट होते हैं। ग्रब, चेतना विषयाविल हो या आत्मनिर्वातित, इसके विषय इसके ग्रर्थों के ग्रालंबन ही होते हैं। ग्रनात्मचेतन चेतना के ग्रर्थ ग्रावेगों ग्रौर जैव ग्रपेक्षाग्रों तक ही सीमित होते हैं इसलिए इसके विषय भी इन ग्रर्थों के ही ग्रालबन होते हैं ग्रौर ये विषय केवल बाह्येन्द्रिय मूलक होते हैं। किन्तु ग्रात्मनिर्वातित चेतना निवर्तन के पहले ही सोपान में न केवल इन्द्रिय-विषयों से निर्वातित होती है बल्कि ग्रावेगों ग्रौर ग्रपेक्षाग्रों से भी निर्वातित होने में समर्थ होती है ग्रौर इस प्रकार दोनों प्रकार के विषयों को इन से उच्चतर ग्रर्थ देती है। इनमें पहला ग्रर्थ सत्य का होता है ज़िससे विषय सत् में प्रतिष्ठित होते हैं। ग्रन्य ग्रनेक प्रकार के ग्रर्थ भी होते हैं, किन्तु स्थूलतः इनको दो वर्गों में डाला गया है, जिनमें एक कमनीयता का है जिससे विषय सौन्दर्य में प्रतिष्ठित होते हैं ग्रौर दूसरा स्वरूप-बोध का, जिससे विषय श्रेयस् में प्रतिष्ठित होते हैं। वास्तव में तीसरे वर्ग के ग्रर्थ ग्रारंभ में लाभ-हानि के रूप में ग्राभासित होते हैं जिससे विषय शिवत्व-कल्याण में प्रतिष्ठित होते हैं, किन्तु ये ही ग्रर्थ ग्रात्मसम्बद्ध होने पर श्रेयस्त्व का रूप ले लेते हैं। अब, इन तीनों वर्गों के विषय ग्रपने ग्रर्थों के ग्रालंबनों के रूप में न्यूनाधिक ही सम्यक ग्रौर न्यूनाधिक ही पर्याप्त होते हैं। ग्रसम्यक्ता या ग्रपर्याप्तता का यह बोध भी वास्तव में चेतना के ग्रपने ग्रर्थों ग्रौर उनके ग्रालंबनों की उनके ग्रपने तंत्र में प्रतिष्ठा ग्रौर उनके ग्रपने तंत्र में निरीक्षण से संभव होता है। यहां यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि विषयों या आलंबनों का यह स्वातंत्र्य : इनकी वस्तुतंत्रता : इनकी प्रदत्तता में नहीं हो कर ग्रपने स्वतंत्र प्रतिमान से प्रामाण्य में होता है। ऐसा नहीं है कि ये प्रतिमान निश्चित ग्रौर स्पष्ट होते हैं, ये वास्तव में नितान्त ग्रस्पष्टतः ग्राह्य होते हैं, किन्तु ये होते हैं यह वस्तुग्रों की प्रमाणापेक्षता से स्पष्ट है। उदाहरणतः विचार में सत्य का प्रमाण ग्रन्तःसंगति ग्रौर विचार्य विषय से "ग्रनुरूपता" होता है ग्रौर इन्द्रिय विषयक में सत्य का प्रमाण परितः इन्द्रियगम्यता होता है। यद्यपि इन में प्रथम के प्रतिमान को हम तर्कशास्त्र के रूप में निश्चित ग्रौर स्पष्ट ग्राह्य बनाना चाहते हैं किन्तु व्यवहार में यह संगति अपने विषय से पृथक् नहीं की जा सकती ग्रौर स्वयं यह विषय ग्रपने संपूर्ण विस्तार ग्रौर गहराई में कभी ग्राह्य नहीं होता। इसलिए हम केवल किसी विचार की न्यून या ग्रधिक पर्याप्तता ही देख सकते हैं पूर्ण पर्याप्तता ग्रौर उस पर्याप्तता के प्रतिमान को नहीं देख सकते।

किन्तु प्रत्येक विचार ग्रपने विस्तार ग्रौर गहराई में ग्रपरिमेय होता है यह तथ्य चेतना ग्रौर वस्तुविषयक ग्रद्भुत् रहस्य की ग्रोर संकेत करता है। विचार वस्तुस्थितिविषयक होता है, इसका उद्देश्य वस्तु ग्रौर वास्तव का ग्रवगमन ही होता है, किन्तु यह किसी वस्तु-

स्थिति का चित्र, या प्रतिबिंब, या प्रतिरूप नहीं होता। यह वस्तु या वस्तुस्थितिगत अर्थों का अन्वेषी और रूपायक होता है। किन्तु वस्तुस्थिति इसे प्रस्तुत होने के साथ ही प्रातीतिक और वास्तव में, प्रकट और गुह्य में, प्रतीक और व्यंग्य में अन्तर्विभक्त हो जाती है। अब, यह विचार स्वयं भी अपना विषय होता है, जैसाकि आत्मचेतन चेतना के सब व्यापारों के लिए सही है, क्योंकि चेतना का अपने प्रति चेतन होना एक ओर अपना प्रेक्षक होना है और दूसरी ओर अपना प्रेक्ष्य होना। इस प्रकार विचार स्वयं अपने लिए एक वस्तुस्थिति होता है। अब, विचार इस अतनप्रेक्षक विचार का ही विचार्य नहीं होता बल्कि इस तथाकथित प्रथम स्तरीय विचार का विचार्य भी वास्तव में विचार ही होता है। दूसरे शब्दों में, आत्मप्रेक्षकता आत्म-चेतना का अनादि व्यापार होता है। इस कारण आत्मचेतन चेतना के अन्वेष्य अर्थ उसमें अन्तर्गर्भ अथवा उससे सृष्ट अर्थ ही होते हैं। उदाहरणतः बाह्यता का आदर्श इन्द्रियगोचर विषयों में उपलब्ध होता है। इनका ही मूल कांट ने स्वलक्षण वस्तु में देखा और इनसे सम्बद्ध संवेदों को निर्विकल्पक या विचारास्पृष्ट घटनाएं कहा। किन्तु इनकी स्वलक्षणता और निर्विक-ल्पकता कितने जटिल विचार द्वारा अवगम्य बन पाती है यह कांट के प्रतिपादन से ही देखा जा सकता है। वास्तव में लोकसाधारण स्तर पर भी इन्द्रिय-विषय विषयरूपेण निर्धार्य होते ही चेतना की अनादि और अतल अर्थ-सृष्टि के अंग हो जाते हैं और यह निर्धारण भी स्वयं इस सृजन का ही क्रियान्वयन होता है। इसी से जैसे-जैसे यह चेतना प्रस्तुत को समझने का प्रयत्न करती है वैसे ही वैसे गहराई में उतरती जाती है। और प्रेक्ष्य का सत्य, विषय के सत्त्व का साक्षात्कार, सर्जक का अन्वेष्य मूल्य होता है।

इसी वृत्ति का एक सर्वथा भिन्न आयाम अपने अस्तित्व के अर्थ का अन्वेषण होता है जिसके प्रसंग से हमारे अस्तित्व के सभी पक्ष, अथवा सभी प्रवृत्तियां : क्रियाएं, विचार, भावनाएं और एषणाएं : युक्तता के प्रतिमान से मापित होती हैं। यह भी चेतना की प्रेक्षात्मक वृत्ति ही होती है, किन्तु इसका अन्वेष्य प्रेक्ष्य का सत्य नहीं होकर अपने अस्तित्व के प्रकटरूप से संकेतित स्वरूप, अथवा कहें सत्य, होता है। इसमें जबकि परोपकार और पर-हानि, जीव-दया और जीव-हिंसा, वैराग्य और लोलुपता, समाधि, मनन और स्वाध्याय ये सब कर्म के व्याप्य होते हैं बैठना-उठना आदि क्रियाएं इसकी व्याप्य नहीं होतीं और कम के औचित्य, या कहें सत्य, का प्रमाण शुद्ध अन्तःसाक्षात्कारगम्य ही होता है। वस्तुगत सत्य और इस आत्मगत या कर्मगत सत्य दोनों के अन्वेषण में निरहंकारता और युक्ति-विवेक उसमें संरचनात्मक रूप से अपेक्षित होते हैं। उदाहरणतः किसी घटना के कार्य-कारण को समझने के लिए देश-कालगत अपनी स्थिति का सार्वभौम स्थिति में अतिक्रमण, अपनी धारणाओं का सार्वभौम युक्ति के आगे समर्पण यह सब संरचनात्मकतया आवश्यक होता है। इनमें प्रथमतः अहंकार अत्यन्त मूलगामी होने पर भी आत्मचेतन चेतना के लिए सहज अतिक्राम्य होता है : उदाहरणतः प्रायः कोई भी मनुष्य सामने पड़ी भौतिक वस्तु को अपने को गोचर अंश तक सीमित नहीं मानता। इस अतिक्रान्त वस्तु को प्रागनुभविकतया उपलब्ध भी कह सकते हैं। जहां तक अपनी धारणाओं के सर्व-सामान्य युक्ति के आगे समर्पण का प्रश्न है, उसमें जहां तक ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य आदि

बाधक होते हैं वहां तक यह अहंकार का नैतिक पक्ष ही होता है, किन्तु जहां तक अपने को विदित अंश से अन्य अंशों की समस्तरता की सहज स्वीकृति का प्रश्न है, वह आत्मचेतनागत आद्य अहंकारातिक्रमण कहा जा सकता है, जो सहज होता है। अब, नैतिक या आत्मगत सत्य के अवगमन में अहंकार के वे पक्ष ही बाधक बनते हैं जो आत्मावत् प्रतीत होते हैं किन्तु अनात्म होते हैं। राग-द्वेष अथवा कहें काम-क्रोधादि आवेग आहंकारिक हैं यह बोध अत्यन्त दुरधिगम्य होता है, और ये त्याज्य हैं यह बोध और भी अधिक दुरधिगम्य है। यही कारण है कि वस्तु-ज्ञान में अहंकारातिक्रमण की बात नहीं की जाती और दूसरी ओर कर्म-ज्ञान में इस अतिक्रमण को ही मुख्य साध्य माना जाता है, मानो यह अतिक्रमण और कर्म का सत्य, अथवा आत्मा का सत्य एक ही बात हो। ऐसा मानने के लिए एक औचित्य भी है कि, आत्मा हमारा स्वरूप होने से वह तो सहज सिद्ध ही है; साध्य तो केवल आवरण की, अनात्म की, निवृत्ति ही होती है। आवेग सम्यग्ज्ञान में बाधक होते हैं, यह बाह्य वस्तु-विषयक भ्रम के प्रसंगों में हम निर्विवाद रूप से देखते हैं, जैसे भयवश रस्सी को साँप समझने या ठूंठ को दैत्य समझने में, सामान्य व्यवहार के स्तर पर भी हम इनकी बाधकता को समझ लेते हैं, विशेषतः तब जब उस व्यवहार के विषय हम होते हैं, "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" यह परामर्श इसी स्तर का है और इसका अनुसरण दुष्कर होने पर भी इसकी समझ लगभग उसी प्रकार की होती है जैसी किसी इन्द्रियगोचर वस्तु की विद्यमानता के लिए अन्य व्यक्ति के प्रत्यक्ष को अपने प्रत्यक्ष के समतुल्य मानने की समझ होती है। किन्तु राग-द्वेष की आवरकता या अनात्मता एक पूर्णतः दूसरे स्तर के बोध की अपेक्षी होती है। किन्तु कर्म का औचित्य-अनौचित्य, राग-द्वेषादि की आवरकता और आवरण की अपवार्यता, तथा श्रेयस् और अश्रेयस् का भेद ये अयथार्थ और अवास्तव हैं और इस प्रकार विषयिनिष्ठ, काल्पनिक या संस्कारमात्र हैं, ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं है। इनमें दृष्टि-भेद होने पर निर्णय कठिन होता है और कभी-कभी असंभव भी, यह बात इन निर्णयों को प्रमाण-रहित नहीं बनाती, क्योंकि इन्हीं में हम एक व्यक्ति को दूसरे से अधिक प्रामाणिक और एक की अपेक्षा पंचायत को अधिक प्रामाणिक मानते हैं, यह भी देखा जाता है।

इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि ऐसे निर्णय एक मूल्य-व्यवस्था के अन्तर्गत तो सहज होते हैं किन्तु दो मूल्य-व्यवस्थाओं के बीच निर्णय दुष्कर ही नहीं असंभव होते हैं, जिसका अर्थ है कि उसके लिए कोई निरपेक्ष आधार संभव नहीं होता। यहां एक प्रतिष्ठित समाजशास्त्री मैक्स- वेबर विषयक एक पुस्तक से उद्धरण देना उपयोगी होगा। इसके अनुसार "वेबर की युक्तियुक्तता (रैश्नैलिटी) की सीमा की अवधारणा उसकी व्यक्तियों और समाजों में मूल्यपरक विरोधों की अवधारणा पर आधारित है। जैसाकि वेबर का तर्क है, यदि मूल्यपरक के विरोधों का परिहार संभव नहीं है तब कार्यों विषयक निर्णयों के लिए कोई युक्त-तर्कमूलक आधार बहुत सीमित हो जाते हैं। केवल मूल्य-विरोधों से बचे हुए क्षेत्रों में ही चयन युक्ति-तर्क-निर्धारित हो सकता है। परस्पर विरुद्ध मूल्य-प्रतिबद्धताओं के बीच निर्णय केवल यादृच्छिक ही हो सकता है।"[4] सर्वप्रथम यहां इस उद्धरण की प्रस्थापना द्रष्टव्य है। इसके अनुसार, यह

4. रोजर ब्रूकर; दि लिमिट्स ऑफ रैश्नैलिटी : एन एस्से ऑन दि सोशल एण्ड मॉरल थॉट आफ मैक्स वेबर ज्योर्ज एल्लन एण्ड अन्विन, लंडन, 1984, पृ. 61

वेबर की व्यक्तिगत मान्यता है, जबकि वेबर का मानना है कि उसकी मान्यता युक्तियुक्त और परिणामतः यथातथ और निरपेक्षतः सत्य है। इस पर कहा जा सकता है कि युक्ति-तर्कमूलक परिस्थितियों में भी मतभेद तो हो सकते हैं किन्तु वे युक्ति-तर्क से निवार्य होते हैं। यह सही है, किन्तु यहां दो बातें द्रष्टव्य हैं :प्रथम यह कि क्या मनुष्यविषयक कोई भी परिस्थिति मूल्य-तटस्थ हो सकती है ? इस परिस्थिति में क्या स्वयं युक्तिपरकता भी एक मूल्य नहीं होती ? दूसरे, दो व्यक्तियों के बीच किसी परिस्थिति को युक्तिपरक बनाने के लिए किन्हीं आधारों को तय करना अनिवार्य होता है, किन्तु ये आधार स्वयं युक्तिमूलक नहीं होते। उदाहरणतः यह रैशनलिज़्म प्राकृतिकतावाद को स्वीकार करके चलता ही है, किन्तु उससे अधिक,इसमें समाज के आधार के रूप में पारस्परिक हित-रक्षामूलक सहमति मानी जाती है और 'हित' से अभिप्राय मनोदैहिक मानव-व्यक्ति के लौकिक सुखों से होता है। किन्तु इस प्राकृतिकता की सत्यता के लिए क्या युक्ति-तर्क है? यह सही है कि प्लेटो, अरस्तु, हेगल और हुस्सर्ल में यह आधार नहीं है, युक्तियुक्ततावाद का आधार पद केवल 'भ्रान्त-अभ्रान्त का विवेक' भी हो सकता है और इसमें निर्णय का आधार निराग्रह आत्मविवेचन हो सकता है, किन्तु इसमें तो मूल्यात्मकता : पुरुष का अर्थ, परमार्थ, पर्येषण आदि : आधारभूत पद होंगे। मूल्य को रुचिमूलक और मूल्य विषयक दृष्टि-भेद को रुचि-भेद, संस्कार-भेद, रागात्मक पूर्वाग्रह का पर्यायवाची मानना इस बात के द्योतक हैं कि रैशनैलिटी : युक्तिपरकता : का अर्थ चेतना की आत्मोन्मुख अत्यन्त पारदर्शिता नहीं हैं[5] बल्कि एक दूसरे प्रकार की कल्मषता है। वास्तव में मूल्य-बोध आत्यन्तिक निराग्रहता, पारदर्शिता, अविवेचित आधार-रहित विवेचन, और इस विवेचन के अनुसारी आत्मनियोजन के निर्मम संकल्प को पूर्वापेक्षित करता है। इसका एक आदर्श उदाहरण महात्मा बुद्ध द्वारा व्यक्ति-भेद के अनुसार उपदेश-भेद में देखा जा सकता है।

माहात्मा बुद्ध व्यक्ति-भेद के अनुसार भिन्न उपदेश देते थे और व्यक्ति-भेद का अर्थ था चित्त के कल्मषावरण के अनुसार स्तर-भेद। कल्मषावरण की अत्यन्त निवृत्ति का पद शून्यता का, तथागतत्व का पद था जिस पर चेतना की आत्मविविक्तता किसी पद को अविवेच्य स्वीकार नहीं करती और परिणामतः आत्मा, ब्रह्म, बुद्धत्व, तथागतत्व कुछ भी अविविक्त नहीं रहता। यहां चित्त की भूमियों का मूल्यों की वास्तवता, अथवा कहें अवास्तवता से सम्बन्ध द्रष्टव्य है। तमसावरण स्वभावतः तत्त्वसाक्षात्कार में बाधक होगा किन्तु चित्त की भूमि के अनुसार, अथवा कहें कल्मषावरण के न्यूनाधिक्य के अनुसार, चित्त तत्त्वसाक्षात्कार में सक्षम होगा। इस आवरण की पूर्ण निवृत्ति के बिना दृष्टिभेद भी रहेंगे। अब, महत्त्वपूर्ण बात यहां यह है कि तत्त्व यहां इन्द्रिय-गोचर नहीं है और न चित्त प्राकृतिक है, यद्यपि ये भी चित्त की भूमियां हैं। तत्त्व यहां वह है जो अन्वेषक के अस्तित्व के रूपान्तरण और तादात्म्य के साक्षात्कार के रूप में साध्य होता है। इस प्रकार तत्त्व मूल्य भी होता है और सत् भी। वास्तव में प्राकृतिक लोक से भिन्न लोक-

5. 'रैशनैलिटी' के इस अर्थ विवेचन के लिए द्रष्टव्य "मनुष्य और जगत्" में "दर्शन का आरम्भ बिन्दु" अध्याय और "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" में "दर्शन के आधार" अध्याय।

विषयक सब दृष्टियों को मूल्यात्मक ही कहा जाता है और उनकी सापेक्षता में प्राकृतिक दृष्टि भी मूल्यात्मक दृष्टि ही हो जाती है, किन्तु इससे ये इरैशनल या पूर्वाग्रही, या यादृच्छिक चेतना के विषय हो जाते हैं, ऐसा कहना उचित नहीं होगा। यहां सुकरात और प्लेटो से दो उद्धरण देना उपयोगी होगा जो पाश्चात्य रैशनैलिटी के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। सुकरात के अनुसार "जब मैं नद पार करने जा ही रहा था तब एक दिव्य संकेत मुझे मिला, जो प्रायः ही मुझे मिलता है—यह मुझे उस कर्म से रोकता है जो मैं करना चाहता हूं………और मुझे लगा जैसे मानो मैंने एक आवाज़ सुनी है जिसने मुझे- रोका है।"[6] महात्मा गान्धी प्रायः ही किंकर्त्तव्यता के गहन संकट की घड़ी उपस्थित होने पर इस आवाज़ से निर्देश लेने के लिए निभृत में चले जाते थे और इसे स्पष्ट सुन लेने पर उसके अनुसार ही कार्य करते थे। उसके राजनीतिक परिणाम क्या होंगे, अथवा अन्य सहयोगी क्या परामर्श देते हैं इसका तब उनके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता था, यह हम जानते ही हैं। इसी प्रकार प्लेटो कहते हैं: "आत्मा में कुछ ऐसा है जो मनुष्य को पान करने के लिए प्रेरित करता है और उससे भिन्न दूसरा भी कुछ है जो उसे इससे रोकता है, ऐसा भी कुछ है जो हमें वासनाओं और रोगों के अधीन करता है और दूसरा भी कुछ है जो हमें विवेक(रीज़न) के निर्देश द्वारा इनसे रोकता है।"[7] यह 'अन्तर्गुहावासी नियोक्ता' रूढ़ि और संस्कारमूलक अभ्यास का पर्याय होता है, ऐसा कहना मूल्यविषयक स्पष्ट वस्तुस्थिति को देखने से इन्कार करना होगा। निश्चय ही मूल्यविषयक प्रसंगों में अधिकांशतः संस्कार और अभ्यास ही हमारी दृष्टि का स्थान लेते हैं किन्तु इससे यह कहना कि मूल्य का तत्त्व संस्कार और अभ्यासमूलक ही है, युक्तियुक्त नहीं होगा।

यहां मूल्यों की संस्कृति-सापेक्षता या वैयक्तिक रुचि-सापेक्षता के प्रश्न पर संक्षेप में विचार स्थाने होगा। पीछे हमने प्रोफेसर दयाकृष्ण के अन्तःसंगति के सिद्धान्त का उल्लेख किया था। वह वास्तव में प्रकारान्तर से सापेक्षतावाद का ही एक रूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी मूल्य-निर्णय की युक्तता मूल्यविषयक एक अन्तःसंगत व्यवस्था को आपादित करती है और इस प्रकार दो संस्कृतियों के समान मूल्य-स्थितियों पर परस्पर विपरीत निर्णय अपनी-अपनी मूल्य-व्यवस्थाओं में अन्तःसंगत होने पर युक्त होते हैं। इस प्रकार आखेट या मांस-भक्षण युक्त है या सर्वव्यापक अहिंसा युक्त है, इतना ही नहीं, मानव-बलि युक्त है या अयुक्त, सति-प्रथा युक्त है या अयुक्त इनके बीच कोई आत्यन्तिक निर्णय संभव नहीं है, जिस प्रकार विरह-भावना-व्यंजक राग भारतीय संगीत-शैली में युक्त है या यूरोपीय, या चीनी संगीत-शैली में, खान-पान रहन-सहन की प्राचीन भारतीय व्यवस्था युक्त है या आधुनिक अमरीकी व्यवस्था, ये प्रश्न ही भ्रांतिपूर्ण होंगे।

इस प्रश्न पर विचार के लिए यह देखना उपयोगी होगा कि यह सापेक्षतावाद वस्तु-सद्विषयक लोक-धारणाओं और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी प्रतिपादित किया गया

---

6. प्लेटो–फ़ीड्रस, 242 बी.
7. रिपब्लिक, 439.

है। मनोविज्ञान और जीवविज्ञान में मनविषयक और जीवविषयक वस्तुस्थितियों के सम्बन्ध में नितान्त बिपरीत सिद्धान्त-व्यबस्थाओं की तो बात ही क्या भौतिकविज्ञान में भी परस्पर भिन्न सिद्धान्त-व्यवस्थाएं देखी जाती हैं और उनके बीच निर्णय की कसौटी व्यवहार-सौकर्य और प्रतिपादन की सरलता ही स्वीकार की जाती है। इस प्रकार विज्ञान ने अब सत् की ज्ञापकता का आग्रह छोड़ दिया है। नृतत्ववैज्ञानिकों के अनुसार यही बात सद्‌विषयक लोक-संज्ञान के सम्बन्ध में भी सही है। वास्तव में ऊपर हमने जो मानव-बलिविषयक दो धारणाओं का उदाहरण दिया है वह मूल्य-कोटि का नहीं होकर ज्ञान-कोटि का ही है : 'मूल्य और ज्ञान' शब्दों का प्रयोग यहां क्रमशः आत्म-बोध और वस्तु-बोध के अर्थ में करते हुए : क्योंकि बलि का उद्देश्य कोई कार्य-सिद्धि होता है और परिणामतः यह वस्तुओं और उनके बीच कारण-कार्य सम्बन्ध के स्वरूप के आधार पर निश्चित कार्य होता है। इस सन्दर्भ में "यह कर्म-युक्त है या नहीं" इस प्रश्न का जिज्ञास्य ठीक वैसा ही होता है जैसा अगली फसल अधिक अच्छी लेने के लिए इस बार की फसल नहीं बोना अथवा इस फसल के फल को भूमि में खाद के रूप में मिला देना अधिक लाभ-प्रद होगा या नहीं ? वस्तु-जगद् विषयक आदिम सांस्कृतिक अवधारणा युक्त है या कि आधुनिक भौतिकवादी अवधारणा यह प्रश्न मूल्यविषयक नहीं होकर वस्तु-स्वरूप-विषयक है। वास्तव में आदिम मनुष्य मानव-बलि या पशु-बलि को शुद्ध रूप से कारण-कार्य के और इस प्रकार वस्तु-जगत् के अन्तर्गत ही देखता है और इससे सम्बद्ध लाभ-हानि को अ–नैतिक लाभ-हानि के रूप में।

किन्तु ज्ञानात्मक सन्दर्भ में बोध के गहनतर स्तर के जागरण के साथ वह किस प्रकार मूल्यात्मक सन्दर्भ में रूपान्तरित हो जाता है यह देखना मूल्य और सद् के स्वरूप और सम्बन्ध को समझने में महत्त्वपूर्ण है। यह जागरण अन्तःसंवेदन का होता है जो संवेदन अन्य मनुष्यों, और उसके आगे जीवमात्र को, अपनी लाभ-हानि के उपकरण के रूप में नहीं बल्कि लाभ-हानि के समान अधिकारी के रूप में देख पाता है। द्रष्टव्य है कि यह जागरण केवल मूल्य-दृष्टि का नहीं होता बल्कि उतना ही वस्तु-दृष्टि का भी होता है। उदाहरणतः जगत् को शुद्ध भौतिक व्यवस्था मानकर मानव या पशु-बलि निश्चय ही एक अन्धता सिद्ध हो जायेगी, किन्तु उसमें साथ ही अहिंसा ही नहीं नैतिक दृष्टिमात्र भी एक अन्धता के रूप में ही देखी जाती है। ऐसे में मानव-बलि कानूनी अपराध तो हो जाएगी किन्तु वह नैतिक दोष नहीं रहेगी, और जहां कानून बाधक नहीं हो वहां मानव-वध में कोई दोष नहीं रहेगा। तथाकथित सभ्य मानव राजनीतिक और अन्य अनेक उद्देश्यों से प्राचीन युगों से आज तक भयानकतम नर-संहार करता आ रहा है। सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास में महाराजा अशोक और महात्मा गांधी के समान कुछ अपवाद ही यह देखने वाले हुए कि यह 'विहित' मानव-बध असन्मूलक है– सत् के उस अर्थ में जिसमें वह एक-साथ वस्तु और शिवत्व का आधार होता है। अब यहां द्रष्टव्य है कि अहिंसा के प्रसंग में वस्तु और मूल्य परस्पर अवियोज्यतः सम्बन्धित होते हैं : जगत् के स्वरूपविषयक ऐसी अवधारणा के बिना जिसमें भौतिक और जैविक दिव्य और आत्मिक के तारतम्य में हों, अहिंसा मूल्य नहीं हो सकती।

इस पर आपत्ति हो सकती है कि मूल्यात्मक सन्दर्भ में सद्विषयक दृष्टि निश्चय ही प्रासंगिक होती है किन्तु यह प्रसंग परोक्ष होता है। जब हम किसी कर्म को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, अभीप्स्य-अनभीप्स्य, या उत्कृष्ट-निकृष्ट कहते हैं तब उसके ये गुण तीव्र मन्द, सफल-असफल या पूर्ण-अपूर्ण के समान नहीं होते, इनमें दूसरे जबकि मात्रात्मक और इस प्रकार वास्तविक होते हैं प्रथम उनकी वस्तुरूपता से असंबद्ध होते हैं। ये कर्त्ता की भावना,जीवन के अर्थ और उसकी सिद्धि-विषयक दृष्टि से सम्बन्धित होते हैं। परिणामतः ये वास्तविक नहीं होकर चित्तपरक ही होते हैं। चित्त और वस्तु का द्वैत तब भ्रांति का हेतु होता है जब वस्तुविषयक चित्त वस्तु-अनुरूप नहीं हो। किन्तु जब चित्त वस्तुविषयक हो ही नहीं, केवल स्वकीय वृत्तियों का ही व्यंजक हो तब उस अवस्था में भ्रांति का कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होता—जब तक हम इस अभिव्यक्ति को चैत्त अभिव्यक्ति, चैत्त भावना के उद्गार,के रूप में देखते हैं। किन्तु जब हम इसे वस्तुविषयक मान लेते हैं तब भ्रांति की संभावना उत्पन्न होती है, जैसे "यह घट सुन्दर है," "यह कर्म श्रेयस्कर है," "यह व्यक्ति शालीन है" आदि में विधेय पद ऐसे ही प्रयुक्त हैं जैसे मानो ये उद्देश्य पद को उसी प्रकार विशेषित करते हों जैसे "घर वर्तुलाकार है," "यह कर्म अमुक परिणाम का कारण है" आदि। जी. ई. मूर ने श्रेयस् को इन गुणों से प्रकारतः भिन्न किन्तु अस्तित्वतः अनुरूप दिखाने का प्रयत्न किया था।[8] किन्तु मूल्यात्मक विशेषणों या विधेयों के सम्बन्ध में ये दोनों दृष्टियां युक्त नहीं हैं। वास्तव में मूल्यात्मक पदों का प्रयोग दो प्रकार से होता है—एक रुचि-अभिव्यंजक रूप में और दूसरा चित्त के भाव की बोधविषयता के रूप में। उदाहरणतः "घट सुन्दर है" और "यह व्यंजन बहुत स्वाद है" प्रथम प्रकार की प्रतिज्ञप्तियां हैं। किन्तु जब चित्रकार घटाकृति के सौन्दर्य को आरेखित करता है अथवा कोई उस चित्र-लिखित घट को अथवा वास्तव घट को चित्रकार की चैत्त भूमि पर अवस्थित होकर देखता है तब "सुन्दर" पद न उद्गारात्मक होता है और न विशेषण ही होता है। यह दूसरा पद चेतना की उस भूमि का अभिव्यंजक होता है जिस पर चखना और देखना दोनों एक ही हो जाते हैं, जबकि उद्गारात्मक प्रतिज्ञप्ति में विधेय पद केवल चखने वाले की मनः स्थिति का ही अभिव्यंजक होता है। चित्त की इन दो भूमियों को इनके अभिव्यंजक पदों की समानता के कारण एक समझ लेना अनुपयुक्त है।

वास्तव में विभिन्न मूल्यों के सन्दर्भ में भी भोक्तृत्व के रूप और प्रेक्षकत्व से उसके सम्बन्ध नितान्त भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। नैतिक सन्दर्भ में भावनाएं सांकेतिक और अधिकांशतः निवार्य और अतिक्रमणीय की भूमिका में होती हैं जबकि काव्य और कलाओं में ये उपादेय और निरूप्य की भूमिका में होती हैं। इस प्रकार बहुत सीमा तक उपनिषद् का द्वा सुपर्णा आदि मंत्र नैतिक बोध में चेतना की स्थिति का सही निरूपक भी कहा जा सकता है क्योंकि नैतिक मूल्य में वास्तव में चित का भोक्ता अंश ही विवेच्य, नियोज्य और वर्ज्य होता है और इसे यह भूमिका प्रेक्षक चेतना की इसकी प्रेक्ष्यता से ही उपलब्ध हो सकती है। अब, यह द्रष्टव्य है कि प्रेक्षक-प्रेक्ष्यभाव ज्ञानात्मक सन्दर्भ में भी उपचरित होता है, वहां प्रेक्ष्य वस्तु-सम्बद्ध होता है,

---

8. जी.ई.मूर–प्रिंकिपिया एथिका, अ-6, (कैंब्रिज यूनीवर्सिटी प्रैस) 1903.

किन्तु नैतिक मूल्य के सन्दर्भ में प्रेक्ष्य आत्मसम्बद्ध होता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञानात्मक संदर्भ में विषय वस्तुरूप में निर्धार्य अर्थों के लोक में अवस्थित होता है जबकि नैतिक सन्दर्भ में विषय आत्मसम्बद्ध अर्थों के लोक में। निश्चय ही वस्तु-सम्बद्ध अर्थ-लोक भी मूल्य-विषयता में रूपांतरित हो सकता है किन्तु इसके लिए उसको आत्म-सम्बद्ध अर्थ-लोक से स्थानान्तरित होना अनिवार्य होता है। किन्तु इस आत्मसम्बद्ध लोक में वस्तु-विषय अपनी विषयता में अन्वेष्य नहीं रह कर सत्य की अन्वेष्यता में अन्तर्भूत हो जाताहै,यह बात दूसरी है कि इसमें अन्वेषक इस अन्वेषण के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट रह पाता है अथवा नहीं। उदाहरणतः मन की वृत्तियां विषय-रूप में मनस्तत्त्व के सत्य में अन्तर्भूत हो सकती हैं, जो अन्वेषण अन्वेषक के लिए आत्मसिद्धि का द्वार बन सकता है। यही बात भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान आदि के सम्बन्ध में कही जा सकती है। किन्तु ये अन्वेषण तभी वास्तव सत्यान्वेषण का पद पा सकते हैं यदि ये चेतना में अर्थ-संपदा के प्रकाशन के और चित्त की संस्थिति और सामरस्य के हेतु बन सकें। यदि इस अन्वेषण का हेतु अर्थ, काम आदि की सिद्धि होता है तो यह अनात्म-सिद्धि का ही उपकरण बनता है और वह न वास्तव सत्यान्वेषण होता है और न नैतिक मूल्यानुसरण। यह बात केवल विज्ञान और शास्त्र के सम्बन्ध में ही सही नहीं है, साहित्य और कलाओं के सम्बन्ध में भी सही है। किसी महान् दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा कलाकार में यदि हम कोई नैतिक दोष देखते हैं तब हमें यह आत्मव्याघातक स्थिति जैसी बात प्रतीत होती है, क्योंकि ज्ञान, शास्त्र या कला के अनुशीलन का साध्य मार्ग-विशेष से आत्म-सिद्धि ही होता है। किन्तु बहुत बार ऐसा नहीं भी होता। उस परिस्थति में इन अनुशीलनों के सफल होने पर भी इन्हें व्यर्थ ही माना जाता है।

पश्चिम में, विशेषतः फ्रांस में, पिछली शताब्दी में "कला-कला के लिए" सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ था, उसी के अनुरूप बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बर्ट्रंड रसल के नेतृत्व में दर्शन में "तर्क-तर्क के लिए" अथवा "विश्लेषण विश्लेषण के लिए" के सिद्धान्त का प्रदिपादन हुआ। किन्तु इस दूसरे सिद्धान्त में यह अन्तर्निहित आस्था थी (और है) कि तर्क और विश्लेषण ही शुद्ध सत्य के प्रापक होते हैं, इनसे कोई दूसरी अपेक्षा : उत्तम जीवन, नैतिक उत्कर्ष, या सामाजिक निःश्रेयस् कीः इनके मूल उद्देश्य : सत्यान्वेषण : में बाधक होती है। यूरोप में वास्तव में उसके निकट अतीत में ही नाज़ीवाद और मार्क्सवाद के रूप में दो बड़े उदाहरण भी हैं जिन्होंने दर्शन और विज्ञान का लक्ष्य सत्यान्वेषण के बजाय सामाजिक निःश्रेयस् को माना और सामाजिक निःश्रेयस् क्या है इसका निर्धारक अधिनायक (डिक्टेटर) की इच्छा को माना। वास्तव में इस प्रवृत्ति के बीज ईसाई धर्म में ही हैं। किन्तु वास्तव में इन 'उपयोगितावादी" सिद्धातों का जो दोष सत्य के निष्पक्ष अन्वेषण में बाधक बनता है वह इनकी सत्य के उपयोगी होने की अपेक्षा नहीं है बल्कि अपनी दृष्टि के अन्यों पर बलात् आरोप का उपक्रम, और अपने को सर्वोच्च प्रज्ञावान् मानने का दंभ है। अन्यथा जितना "दार्शनिक सत्य" गुह्य है कम से कम उतना ही यह भी गुह्य है कि "उत्तम जीवन" क्या है अथवा "समाज का निःश्रेयस्" किस में है? किन्तु यहां यह एक दूसरी रोचक बात है कि पश्चिम के अधिकांश दर्शन-विषयक सिद्धान्त दर्शन और

विज्ञान का अन्वेष्य सत्य को नहीं मानकर कार्य-सिद्धि और उपयोगिता को ही मानते हैं: प्रेग्मेटिज़्म, लोकभाषाविश्लेषणवाद और यूटिलिटेरियनिज़्म इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

निश्चय ही सत्य के अनुसन्धान में निर्लिप्तता और निराग्रह आधारभूत पूर्वापेक्षाएं होती हैं, किन्तु ये अपेक्षाएं तो सभी मूल्यान्वेषणों में, नैतिक मूल्यान्वेषण में सर्वाधिक, आधारभूत होती हैं। किन्तु तब इनकी सिद्धि स्वयं सर्वोच्च नैतिक मूल्य है। इसलिए यह सिद्धि सत्यान्वेषण की अनिवार्य पूर्वापेक्षा होने से दार्शनिक और वैज्ञानिक का नैतिक रूप से उत्कृष्ट होना पूर्वापेक्षित होना चाहिए। कुछ भारतीय दर्शनों में ज्ञान के लिए "अधिकारी" होना अनिवार्य माना गया है और यह अधिकार नैतिक उत्कर्ष से ही आता है। किन्तु यहां आपत्ति की जा सकती है कि वास्तविकता में तो स्थिति इसके अनुरूप नहीं मिलती : नैतिक रूप से अनति उत्कृष्ट, या निकृष्ट भी, लोग उच्च दार्शनिक, वैज्ञानिक, गायक, कवि, चित्रकार आदि देखे जाते हैं। वास्तव में कलाकारों का नैतिक रूप से शिथिल होना तो स्वाभाविक जैसा ही माना जाता है। उदाहरणतः खुशवंत सिंह की अभी प्रकाशित एक पुस्तक में कुछ प्रमुखतम दार्शनिकों और कलाकारों की कामुकता के विवरण दिये गए हैं। जैसे अल्डुअस हक्सले उसके अनुसार पार्क में से लड़कियों को फुसलाकर मैथुन के लिए ले जाता था और ओस्कर वाइल्ड समलिंगी यौनाचारी था।[9] ये तथ्य खुशवंतसिंह ने इस निर्बन्ध और विपर्यस्त कामुकता का रस लेते हुए उसकी अनुशंसा में लिखे हैं और वह स्वयं भी एक प्रसिद्ध उपन्यासकार है। ऐसी परिस्थिति में इस प्रकट अन्तर्विरोध का समाधान इससे गहरे में कहीं खोजना होगा।

सर्वप्रथम यह प्रष्टव्य है कि दर्शन, विज्ञान, कला आदि के मूल्यान्वेषण होने का क्या अर्थ है ? मूल्य की एक परिभाषा हमने "चेतना की वस्तु-अनुबन्ध के विपरीत वस्तु का चेतनानुबन्ध" दी थी।[10] किन्तु इसके विवेचन के क्रम में "चेतनानुबन्ध" का स्थान "आत्मानुबन्ध" ने ले लिया। किन्तु ये वास्तव में मूल्यात्मकता के, अथवा कहें मूल्यात्मकता के आविर्भाव के, दो पद कहे जा सकते हैं। किन्तु प्रथम पद में एक प्रकार से अतिव्याप्ति भी देखी जा सकती है, क्योंकि इसके अनुसार भाषा भी, जैसा हमने इसे देखा है,[11] मूल्य-सिद्धि हो जायगी। किन्तु दूसरी ओर वह अन्तर्विरोध है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। इसके समाधान के लिए इन दो पदों पर पुनः विचार आवश्यक है।

यहां प्रष्टव्य है कि साहित्य, संगीत आदि मूल्य हैं, किन्तु ये स्वयं में मूल्य हैं या कि सर्जक और श्रोता की चेतना की विशेष निष्पत्ति के रूप में मूल्य हैं ? दूसरे शब्दों में, गीता के ज्ञान, भक्ति, कर्म के समान ये मार्गों के रूप में मूल्य हैं याकि काव्य काव्यात्मक सृजन के रूप में, संगीत संगीतात्मक सृजन के रूप में मूल्य है, फिर चाहे इससे व्यक्तित्व का कोई परिष्कार हो या नहीं हो, चाहे इससे व्यक्तित्व में असन्तुलन, विकृति और दोष ही क्यों नहीं आये !

---

9. खुशवंतसिंह–"नीडफॉर न्यू रिलिज्यन इन इंडिया एंड अदर एस्सेज़" यूबी एस, 1991.

10. यशदेव शल्य–"समाज : दार्शनिक परिशीलन" अ 6 (रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1991)

11. उपर्युक्त, अ. 4.

जैसाकि हमने पीछे देखा, सृजन वास्तव में चेतना का तमसावरण के भेदन का प्रयत्न, अर्थ-सम्पद् के रूप में आत्मक्रियान्वयन, होता है। इस दृष्टि से भाषा सामाजिक चित्त का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सृजन है और परिणामतः यह एक महत् मूल्य की सिद्धि है। इसी आधार पर साहित्य, संगीत, दर्शन, विज्ञान आदि स्वयं में भी मूल्य होते हैं, क्योंकि ये चेतना के अर्थों के प्रकाश में उन्मीलन के ही विभिन्न रूप हैं। एक उत्कृष्ट कविता के आविर्भाव का अर्थ है भावनात्मक चित्त का नव्य अर्थ-संपद् के रूप में उन्मेष, उसके द्वारा आत्मगत अर्थ का उद्घाटन, उसका साक्षात्कार। इसलिए इस कविता का आविर्भाव मूल्य की निरपेक्ष सिद्धि है। अब, यह आविर्भाव उस व्यक्ति-चित्त को गहराई से प्रभावित नहीं करे जिसमें इसका उन्मेष हुआ है यह संभव नहीं है, क्योंकि वास्तव में यह उन्मेष उस चित्त के समग्रता में आलोड़न का ही प्रतिफल होता है। किन्तु काव्यात्मक उन्मेष नैतिक संकल्प, कर्म-अकर्म विषयक सम्यग्दृष्टि, दार्शनिक प्रज्ञा और धार्मिक बोध भी दे, इसी प्रकार कर्म-अकर्म विवेक से अन्य पक्षों में भी चेतना का उन्मेष हो, यह आवश्यक नहीं है। (यह विचित्र बात है कि अधिकांशतः ये उन्मेष एकोन्मुखता भी देते हैं, यद्यपि प्रत्येक उन्मेष चेतना को सर्वात्मतः आलोड़ित कर सब अर्थों के ग्रहण की उत्कृष्टतर योग्यता उत्पन्न करता होना चाहिए।) उदाहरण के लिए काव्य में चेतना भावना और उसके भोक्तृत्व के विमर्श में उन्मीलित होती है, किन्तु कोई भावना और उसके भोक्तृत्व को ही पर्याप्त मानकर दिग्भ्रष्ट भी हो सकता है, यदि इस भावना का आलंबन ऐन्द्रिक हो तब तो दिग्भ्रष्ट होने की संभावनाएं और भी बढ़ जाती हैं। किन्तु निश्चय ही उसके भावनात्मक होने के साथ-साथ भोक्ता और विमर्शक भी होने से उसकी चेतना में प्रांजलता, पारदर्शिता, प्रेक्षकता और उर्वरता भी उस सीमा तक रहती है जिस सीमा तक वह काव्य-बोध की भूमि पर ऊर्ध्वचेतस् होता है। किन्तु ऐसे में भी उसमें संकल्प दुर्बल हो सकता है और वह उस अन्तर्ध्वनि की उपेक्षा कर सकता है जिसका उल्लेख सुकरात, कालिदास और गान्धी ने किया है। अल्डुअस हक्सले, ओस्कर वाइल्ड संभवतः संकल्प-दौर्बल्य के ही उदाहरण हैं किन्तु खुशवंत सिंह चित्त की उस भूमि का उदाहरण है जिसकी भावना का आलंबन ऐन्द्रिक है और जो इस भावना और उसके भोक्तृत्व को ही पर्याप्त मानता है।

किन्तु द्रष्टव्य है कि जो बात काव्य के लिए सत्य है वह अन्य कलाओं के लिए सत्य नहीं है। चित्रकार भावना का भोक्ता और विमर्शक नहीं होता, यद्यपि उसमें यह भी अपेक्षित होता है। यही बात मूर्तिकार के लिए कही जा सकती है। किन्तु ये दोनों नैतिक-आध्यात्मिक रूप से साहित्यिक के समान ही दिग्भ्रान्त या दुर्बल-संकल्प हो सकते हैं। वैज्ञानिक या दार्शनिक में यह दिग्भ्रान्तता और संकल्प-दुर्बलता और भी अधिक सहज होती है, क्योंकि वह उस बोध से वंचित हो सकता है जिस बोध को भावना चित्त के लिए सहज सुलभ करती है। उदाहरणतः सहानुभूति, प्रेम, वात्सल्य, करुणा ये सब भाव हैं। ये न केवल स्वयं अपार अर्थ-राशियों के आगार हैं बल्कि नैतिक बोध के लिए भी निमित्त बनते हैं जिससे वैज्ञानिक और दार्शनिक न केवल संकल्प-दौर्बल्य के कारण ही वंचित हो सकते हैं बल्कि भ्रांत दृष्टिवश भी वंचित हो सकते हैं। यों तो दर्शन के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं किन्तु आधुनिक

पाश्चात्य वैज्ञानिकतावाद-तार्किक भाववाद (साइंटिसिज़्म एवं लॉजीकल पॉज़िटिविज़्म) इसके प्रखरतम उदाहरण कहे जा सकते हैं। किन्तु तब यह विचारणीय है कि ऐसी परिस्थिति में कला, दर्शन आदि को मूल्य कहना कहां तक युक्ति-संगत होगा; क्योंकि नीति और आत्मानुसरण-विहीन ये सब सिद्धियां विदग्ध असत्यभाषी के भाषा--कौशल से उपमेय होंगी। हमारे विचार में इसका उत्तर होगा कि विदग्धता स्वतः मूल्यवान् है, असत्य भाषण उसका दुरुपयोग है और वह या तो उस चेतना की संकल्प-विहीनता है जो वैदग्ध्य रूप में प्रकट उसकी प्रांजलता का लाभ अर्जित करने में असमर्थ रहती है अथवा केवल क्षेत्रीय प्रांजलता ही है जो वचन-कौशल के सीमित क्षेत्र के आगे उपहित रहती है। किन्तु अधिकांश में महान् कलाकार और दार्शनिक संस्कल्प-विहीन ही होते हैं, दृष्टि-विहीन नहीं, और इस प्रकार वे कला या दर्शन में अपनी सम्यग् दृष्टि का विकास कर पाते हैं। किन्तु दृष्टि ही असम्यक् होने पर उनकी कृतियां विदग्ध तो हो सकती हैं किन्तु महान् नहीं। उदाहरणतः रुडोल्फ कार्नप, क्वाईन और राइल को तर्क-विश्लेषण-कुशल तो कहा जा सकता है किन्तु महान् दार्शनिक नहीं कहा जा सकता और परिणामतः उसी रूप में और उस सीमा तक ही उनकी कृतियों का अन्यों के लिए और उनकी चेतना के विकास का उनके अपने लिए मूल्य होता है। निश्चय ही ऐसा वैज्ञानिक के लिए नहीं कहा जा सकता, वह आध्यात्मिक रूप से नितान्त विपन्न होने पर भी महान् वैज्ञानिक हो सकता है, यद्यपि निश्चय ही वह समग्र व्यक्ति के रूप में नितान्त विपन्न ही होगा।

यहां यह विचारणीय है कि सम्यग्दृष्टि और आध्यात्मिक संपन्नता क्या है और क्या इनका कोई वस्तुपरक आधार है? सम्यग्दृष्टि के लिए सर्वप्रथम अपेक्षा दर्शन-क्षमता : ईक्षण-क्षमता : की होती है जो आत्म चेतनाचेतना में एक सीमा तक सहज होती है, किन्तु यह प्रमाद या प्रयत्न से घटाई या बढ़ाई जा सकती है। ध्यातव्य है कि 'प्रमाद' और 'प्रयत्न' नैतिक पदावली के ही पद हैं और परिणामतः ये स्वयं भी सम्यग्दृष्टि के पूर्वापेक्षी हैं। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि नैतिकता-बोध, अथवा कहें सदसद्-विवेक भी आत्मचेतना में एक सीमा तक सहज होता है, एक वर्गणा (केटेगरी) के रूप में इसे प्रागनुभविक भी कह सकते हैं। अब, यह दृष्टि क्या है? इसे पीछे अध्याय 2 में विवेचित अर्थ में चेतना का सृजनात्मक उन्मेष कहा जा सकता है। भाषा, साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, विज्ञान आदि सब चेतना के सृजनात्मक उन्मेष ही हैं और इस प्रकार ये चेतना की दृष्टि-संपन्नता के विभिन्न रूप हैं। यह दृष्टि जितनी ही पैनी होती है उतना ही तत्त्व का रूप इसका ग्राह्य बनता है। एक चित्रकार किसी चेहरे के, किसी सूर्योदय के, किसी प्राकृतिक दृश्य के आलंबन से जो देखता है वह इन आलंबनों के समान इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता, किन्तु न वही इन्द्रिय-ग्राह्य होता है जो मनोवैज्ञानिक (इस शब्द के व्यापक अर्थ में) चेहरे में, भौतिकवैज्ञानिक सूर्योदय में और वनस्पतिवैज्ञानिक उस प्राकृतिक वस्तुस्थिति में देखता है। किन्तु इसी कारण ये सब, अथवा इन में से कोई, जो देखते हैं वह काल्पनिक नहीं हो जाता, वास्तव में ये इन्द्रियेतर दृश्य ही ऐन्द्रिक दृश्य के सत्य या याथातथ्य होते हैं—वही गुह्य याथातथ्य जो परिभूः स्वयंभूः इन दृश्यों के आधार में इन के सृजन के साथ इनमें निक्षिप्त करता है।

अब, यदि 'दृष्टि' को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है तब प्रत्येक दर्शन ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। किन्तु ऐसा होने के लिए दृष्टि के स्रोत का, वस्तुओं के याथार्थ्य-विधायक का, दृश्य में सम्मिलित होना आवश्यक होता है। इस पर यदि आपत्ति की जाय कि द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता, और यदि हो भी सकता हो तो वह प्रथम दृश्य की सम्यक्ता के लिए अपेक्षित नहीं हो सकता, तो यह युक्त नहीं होगा। क्योंकि सर्वप्रथम, जैसाकि हमने ऊपर देखा, "दृष्टि" का आविर्भाव ही द्रष्टा-चेतना के आत्मोन्मुख निवर्तन से होता है, परिणामतः दृष्टि के स्रोत पर लौटे बिना सब दृष्टियां केवल अपर्याप्त आत्मदर्शक दृष्टियां ही होती हैं। दूसरे, इस आत्यन्तिक आत्मनिवर्तन के बिना अहंकार, आवेग और वासनाएं ही स्रोत का स्थान ले लेती हैं और इस प्रकार द्रष्टास्थानीय बन जाती हैं।

पी. 51 मधुबन पश्चिम,
किसान मार्ग—टोंक रोड
जयपुर—302015

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन व्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।

(ईशावास्य उपनिषद्, मंत्र १)

इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो भी कुछ है, सब उस ईश्वर से अंतर्व्याप्त है । इसलिए इस जगत् की भोग्य वस्तुओं को उस ईश्वर का प्रसाद मान कर ही ग्रहण करो । यह धन, ये भोग्य वस्तुएं, स्वयं में प्रसादक नहीं हैं इसलिए उनमें आसक्ति अनुचित है ।

सौजन्य से :

सर्वश्री न्यू एज कंसल्टेंट्स
6, इण्डस्ट्रियल एरिया
बीकानेर

3

गुणविचारः शाब्दिकों के दर्शन के संदर्भ में

देवेन्द्रनाथ तिवारी

भारतीय चिंतन-परम्परा में द्रव्य की तरह गुण भी विचार का एक प्रमुख विषय रहा है। गुण की महत्ता के संबंध में गीता का वचन है "त्रैगुण्य विषया वेदाः" अर्थात् वेदों का विषय त्रिगुणात्मक है। परम तत्त्व को भी मनीषियों ने सगुण निर्गुण गुणातीत रूप में गुण के आधार पर ही लक्षित किया है। जगत् में मानव के अतिरिक्त पशु, पक्षी आदि तक में भी गुण के आधार पर ही तारतम्य व्यवस्थित किया जाता है। औषधियों और वनस्पतियों के उपयोग का प्रतिपादन भी गुण के आधार पर ही किया जाता है। हमारी परम्परा में "गुणाः पूजा-स्थानम् गुणिषु" इस नीतिवचन से गुण को ही पूजा स्थान कह कर इसे उत्कृष्ट स्थान प्रदान किया गया है।

भारतीय दर्शन में गुण के संबंध में जो तात्त्विक चिंतन प्रस्तुत हुआ है उसकी मुख्य रूप से चार धाराएं हैं। पहली यह कि, द्रव्य शुद्ध सत्ता है और गुणों से परे या गुणातीत है, जैसे अद्वैत वेदान्त में। दूसरी, द्रव्य की पूर्णता में गुण एक आवश्यक घटक है। गुण द्रव्य के अवयव या अंग रूप होते हैं, जैसे रामानुज वेदान्त में। तीसरी, गुणों के अतिरिक्त द्रव्य नहीं है बल्कि गुण ही द्रव्य है। सांख्य की प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है और गुणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। बौद्धों के अनुसार भी वस्तु गुणों का पुंजमात्र होती है। चौथी यह कि द्रव्य और गुण दोनों निरपेक्ष पदार्थ हैं यद्यपि द्रव्य कभी भी गुण-रहित नहीं हैं, जैसे वैशेषिक दर्शन में।

यहां इन मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा विषयान्तर होगा। विस्तारभय से अति संक्षेप में इन मान्यताओं के पारस्परिक द्वन्द्वों को दर्शाना उचित होगा।

प्रथम मान्यता के अनुसार "द्रव्य गुणातीत है" ऐसा मानने पर "गुण है" और उससे परे भी कोई चीज् (द्रव्य) है—यह निगमित होता है। जगत् गुण-प्रपंच है और इस प्रकार

गुणगुणीभाव में गुण के आश्रय रूप में गुणी की सत्ता मानी जाती है। वैचारिक दृष्टि से, गुणरहित स्थिति में शुद्ध सत्ता और शुद्ध असत्ता में अंतर नहीं किया जा सकता है, अतः शुद्ध सत्ता की कल्पना शुद्ध असत्ता की तरह होगी। दूसरी मान्यता को स्वीकार करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि अवयव के अभाव में अवयवी नहीं रह सकता और अवयवी जब भी होगा तो अवयवों के आश्रयण से। इस प्रकार परस्पर आश्रयाश्रयी भाव होगा। ये विचारक तत्त्व को आश्रयी (अवयवी) तो स्वीकार करते हैं किन्तु अवयवी अवयवों पर आश्रित होता है—ऐसा नहीं मानते हैं। तर्कतः गुण को अवयव मानकर अवयवों के संघात रूप अवयवी को मानने पर अवयवी अवयव के अतिरिक्त हो ही नहीं सकता। यदि तीसरी मान्यता के अनुसार गुणों का संघात मात्र ही द्रव्य माना जाय तो द्रव्य गुण-संघात का ही एक नया नाम मात्र होगा, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा। इस प्रकार द्रव्य में गुण रहते हैं अथवा गुण इसलिये गुण कहे जाते हैं कि वे द्रव्याश्रित हैं—इसकी व्याख्या नहीं की जा सकेगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में द्रव्य की मूल सत्ता और गुण की द्रव्याश्रित (गौण सत्ता) के रूप में अलग-अलग पहचान रखना आवश्यक होगा। चौथी मान्यता के अनुसार यदि यह मानें कि द्रव्य और गुण दोनों निरपेक्ष पदार्थ हैं तो द्रव्य और गुण के बीच प्रबल द्वैत का प्रश्न उठता है, और दोनों के बीच संबंध की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती है। यदि गुण को निरपेक्ष पदार्थ मानते हुए भी द्रव्याश्रित मानकर आश्रय-आश्रयी संबंध की व्याख्या स्वीकार करें तो दोनों की निरपेक्षता बाधित होगी और तब उन्हें निरपेक्ष मानना संभव नहीं होगा। स्पष्ट है कि गुण के उपर्युक्त लक्षणों में से किसी भी अभिमत को मानकर चलने पर विवादों एवं विसंगतियों से बच पाना कठिन है। एक दृष्टि से जो सत्य होता है वह दूसरी दृष्टि से असत्य भी हो सकता है और दोनों दृष्टियों में परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है। यह विवाद किसी विचार-परम्परा को आगे बढ़ाने के लिये आवश्यक होता है।

गुण के विवेचन का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष भी है जिसका विवेचन वैयाकरणों ने किया है। वैयाकरणों के एतत्संबंधी मत का वैलक्षण्य इस बात में निहित है कि लोक में प्रचलित गुण संबंधी व्यवहारों के आधार पर उन्होंने अपना सिद्धान्त स्थापित किया है। सूत्रकार पाणिनि एवं महाभाष्यकार पतंजलि की परम्परा में मूर्धन्य आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में लौकिक व्यवहार में गुण का जिस रूप में प्रयोग होता है उसका आश्रयण करके "गुणसमुद्देश" की रचना की है। भर्तृहरि के व्याख्याकार हेलाराज ने नौ कारिकाओं में निबंधित इस समुद्देश पर 'प्रकाश व्याख्या" की है।

हेलाराज ने वैयाकरणों के गुण-विचार पर वैशेषिकों के एतत्संबंधी विचारों का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] इसका कारण यह है कि यथार्थवादी वैशेषिकों का गुण-विचार व्यवहार के नज़दीक माना जाता है। बाद के वैशेषिकों ने व्यवहार से अधिक तार्किक पक्ष को महत्त्व दिया है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि गुण के संबंध में वैयाकरणों का अपना सिद्धान्त नहीं है। प्रस्तुत लेख वैशेषिकों के गुण संबंधी मत की समीक्षा तथा वैयाकरणों के

---

1. वाक्यपदीय, गुण समुद्देश 3/1/1 पर हेलाराज की व्याख्या।

तत्संबंधी लक्षण के विवेचन पूर्वक इनके अपने मत के वैलक्षण्य को स्पष्ट करने की दिशा में एक प्रयास है। किसी विचार की मौलिकता का प्रदर्शन एवं तद्‌विषयक दूसरों के विचार से साम्य-वैषम्य की परीक्षापूर्वक उसके वैलक्षण्य का निर्णय उभय पक्ष के विशद चित्रण, तुलना एवं उनकी समीक्षा द्वारा ही सार्थक रूप से किया जा सकता है। अस्तु, वैशेषिकों के गुण संबंधी विचारों से आरम्भ करना प्रकरण के अनुकूल होगा।

वैशेषिकों ने गुण पर विस्तार से चर्चा की है। ये गुण को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। इस दर्शन में गुण के लक्षण निम्नलिखित हैं :[2]

(अ) वैशेषिकों के अनुसार सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थ सामान्य से युक्त नहीं होते हैं। गुण सामान्य से युक्त होता है। उदाहरण के लिये 'रूप' गुण 'रूपत्व' सामान्य से युक्त होता है।

(ब) गुण गौण रूप से वस्तु में रहकर सहायक होता है; जैसे—सूत का रंग जो सूत से संयुक्त होने से वस्त्र (जो सूत द्वारा निर्मित होता है) का स्वरूप निर्धारित करता है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य को समवायि कारण माना जाता है। यदि गुण का लक्षण असमवायि का कारण न माना जाय तो द्रव्य में अतिव्याप्ति होगी।

(स) गुणों को अस्पन्दात्मा कहा है। 'स्पन्द' का अर्थ कर्म या क्रिया है और वैशेषिकों ने गुण को कर्म से भिन्न पदार्थ माना है। इसी भिन्नता को प्रदर्शित करने के लिए गुण को अस्पन्दात्मा कहा गया है।

(द) गुण स्वतंत्र नहीं हैं। ये द्रव्याश्रित होने से परतंत्र हैं। प्रश्न उठता है कि यदि गुण का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है तो इन्हें स्वतंत्र पदार्थ क्यों माना गया है? इसके उत्तर में वैशेषिकों का कहना है कि जो भी ज्ञेय एवं अभिधेय है वह पदार्थ है। गुण ज्ञेय और अभिधेय है, अतः गुण भी पदार्थ है। इसकी एक अलग कोटि है। यह द्रव्य नहीं है परन्तु द्रव्याश्रित है।

गुण संबंधी जो लक्षण वैशेषिकों ने किया है उसमें कुछ विसंगतियां प्रतीत होती हैं। यह कि गुण का यह लक्षण प्रकृततः निषेधात्मक है और इस लक्षण से गुण वस्तुतः क्या है, इसका स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। गुण को सामान्यवान् एवं द्रव्याश्रित कहने से जो भी निषेधात्मक अथवा विधानात्मक अर्थ निकलता है उसके आधार पर कर्म को गुण से अलग करना कठिन है। यदि यह कहा जाय कि गुण द्रव्य का निष्क्रिय और कर्म उसका सक्रिय रूप है तो यह भेद भी आपत्तिरहित नहीं है, क्योंकि कर्म में भी गुणवद् व्यवहार होता है। पुनः, वैशेषिकों ने "प्रयत्न" को भी गुण माना है। यहां गुण और कर्म का विभाग स्पष्ट नहीं हो पाता। उदाहरण के लिये "साँस लेना" प्राणी का गुण है और यह क्रिया भी है। अतः वैशेषिक दर्शन में यह आपत्ति सदैव बनी रहती है कि किस आधार पर गुण को द्रव्य का निष्क्रिय और

2. सामान्यवान् असमवायिकारणम् अस्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रितः एवं तर्कभाषा, एवं देखें—तर्क संग्रह पर एतत्संबंधी दीपिका।

कर्म को सक्रिय रूप माना जाय ? द्रव्याश्रित होने से गुण और कर्म का तात्त्विक अंतर भी बताना संभव नहीं है ।

यदि गुण सामान्यवान् है तो द्रव्यत्व गुण है या सामान्य ? यदि इसे सामान्य और गुण दोनों माना जाय तो किस आधार पर इन्हें पृथक् पदार्थ माना जाय ? वास्तव में वैशेषिकों ने गुण की वस्तुपरक व्याख्या की है । वस्तु-रूप अर्थ मानने पर सबसे अहं प्रश्न गुणों के वस्तुपरक अस्तित्व के ही संबंध में उपस्थित हो जाता है । गुणवाची शब्द तत्त्व के लिए प्रयुक्त होते हैं किन्तु इनका गुणवद् व्यवहार लोक में देखा जाता है । वैशेषिकों ने गुण के दूसरे पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं दिया है । वैयाकरणों ने इसके दूसरे पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है ।

वैयाकरणों ने शब्द की प्रवृत्ति के आधार पर जिन चार पदार्थों (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य) का वर्गीकरण किया है गुण उनमें से एक है । कुछ वैयाकरण तो जाति एवं क्रिया को भी गुण में घटाकर गुण की और भी व्यापक संकल्पना करते हैं ।

महाभाष्यकार पतंजलि ने गुण शब्द का प्रयोग निम्न अर्थों में किया है :[3]

(1) समान भाग के अर्थ में (समेष्ववयवेषु)—अर्थात् समान भाग के अर्थ में गुण शब्द का प्रयोग होता है । उदाहरण के लिये द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुः जैसे वाक्यों में ।

(2) गुणवान् के अर्थ में—जैसे "गुणवान् अयं देशः (यह देश अच्छे गुणों से युक्त है ।) इस वाक्य में गुण शब्द का प्रयोग देश की खुशहाली-सम्पन्नता, पशु-कृषि आदि की कुशलता के लिये हुआ है । इसी प्रकार "गुणवान् अयं ब्राह्मणः" इस वाक्य में आचारवान् होने या सच्चरित्रता के अर्थ में गुण शब्द का प्रयोग हुआ है ।

(3) सुस्वादु अर्थ में—जैसे– 'ओदनं गुणवद्" (भात गुणयुक्त है) इस वाक्य में सुस्वादु अर्थ में गुण शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

(4) गौण अर्थ में गुण शब्द का प्रयोग है, जैसे—"गुणभूता वयम् अत्र" (मैं यहां नगण्य हूं) इस वाक्य में गुण शब्द का प्रयोग प्राथमिक अर्थ में न होकर गौण अर्थ में हुआ है ।

(5) संख्या अर्थ में—उदाहरण के लिये "द्विमयम् उदस्वित्" जैसी वाक्य-रचनाओं की व्याख्या के लिये गुण शब्द का प्रयोग होता है । **"संख्याया गुणस्यनिमाने मयट्"** सूत्र[4] में मयट् प्रत्यय का प्रयोग एक संख्या के लिये हुआ है । एक भाग दही जब दो भाग गेहूं या जौ के बदले बेची जाती है तो दिए गए भागों की संख्या और जिसे बेचा गया है उसके एक हिस्से

---

3. गुणशब्दोऽयं बह्वर्थः । अस्त्येव समेष्ववयवेषु वर्तते । यद्यथा । द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति । अस्ति द्रव्यपदार्थकः । तद्यथा गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्तते अस्त्यप्रधान्ये वर्तते । तद्यथा । यो यत्राप्रधानं भवति स आह गुणभूता वयमत्रेति । अस्त्याचारे वर्तते तद्यथा । गुणवानयं ब्राह्मणः यदित्युच्यते यः सम्यगाचारं करोति । अस्ति संस्कारे वर्तते । तद्यथा । संस्कृतमन्न गुणवदित्युच्यते । महाभाष्य 2, पृ. 367 1, 2–7 ।

4. पाणिनि 5.2.47 ।

के निमान (मूल्य) के लिये गुण शब्द का प्रयोग "द्वियमुदश्वित्" जैसी वाक्य-रचनाओं की व्याख्या के लिये किया गया है ।

गुण का वास्तविक लक्षण क्या है ? पतंजलि ने गुण की दो परिभाषाएं दी हैं । गुण की पहली परिभाषा "**वोतो गुणवचनात्**"[5] सूत्र की व्याख्या के अवसर पर और दूसरी परिभाषा किसी अन्य की है जिसे पतंजलि ने उद्धृत किया है । पहली परिभाषा—'**सत्त्वेनिविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते । आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्व प्रकृतिर्गुणः**" है ।[6] इस परिभाषा के अनुसार गुण वह है जो द्रव्य में पाया जाता है और जो द्रव्य से अपैति (वियुक्त) भी हो सकता है । यह विभिन्न प्रकार के तत्त्वों में पाया जाता है । गुण की इस परिभाषा में जाति को गुण से अलग किया गया है । जबकि किसी वस्तु मे उसकी जाति अलग नहीं होती है और न ही दूसरी जाति से संबंधित वस्तुओं में सत्तावान् ही हो सकती है । यही नहीं, यदि जाति में भी उस तरह की स्थिति हो तो उसे भी गुण कहा गया है । गुण घट के रंग की तरह कभी कार्य और आकाश के विस्तार की तरह कभी कार्य नहीं भी हो सकता है । वैशेषिकों के अनुसार कार्य सदैव प्रभाव (विकार) होता है और इसीलिए इसे गुण के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है । गुण की यह परिभाषा (यदि और सीमित न किया जाय) तत्त्व पर भी लागू हो सकती है । उदाहरण के लिये एक अवयवी जो अपने अवयवों में अस्तित्ववान् रहता है—जब अवयवों का मेल समाप्त हो जाता है तो अवयवी ही नहीं बचता है । कैयट ने भी अपने महाभाष्य प्रदीप[7] में कहा है कि यह परिभाषा अवयवी पर लागू होती है किन्तु अवयवी गुण नहीं है । पुनः "असत्त्व प्रकृतिः" कथन द्वारा यह परिभाषा सभी द्रव्य प्रकृति को अपने क्षेत्र से अलग कर देती है ।[8] इस प्रकार कैयट ने गुण के संबंध में इस परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि गुण द्रव्य नहीं है, जाति नहीं है, क्रिया नहीं है, किन्तु यह सभी वस्तुओं में निहित है, और उन वस्तुओं से विमुक्त भी हो सकता है ।[9]

गुण के सबंध में भाष्यकार द्वारा उद्धृत दूसरी परिभाषा निम्न प्रकार है—**उपैत्यन्यद् जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि । वाचकः सर्वलिंगानां द्रव्यान्यो गुणः स्मृतः** ।[10] गुण की इस परिभाषा के अनुसार जैसे आम (द्रव्य) पहले हरित गुण युक्त होता है फिर पाक होने पर हरित गुण को छोड़कर पीत इस दूसरे गुण को प्राप्त होता है, और यह हरित गुण दूसरे द्रव्यों में भी पाया जाता है, जैसे शुक्ल गुण पट में ही नहीं, शंख, चन्द्र, गौ आदि द्रव्यों में भी देखा जाता है । गुण सभी लिंगों का वाचक होता है । उदाहरण के लिए सुन्दरं फलं (नपु. लि.) सुन्दरी स्त्री (स्त्री. लि.) और सुन्दरः पुरुषः (पु. लि.) इन सभी लिंगों में प्रयुक्त

---

5. वही, 4:1:44 ।
6. महा. 11. पृ. 217, 1.1.2 ।
7. वही ।
8. वही ।
9. महाभाष्य 4.1.44 ।
10. वही, 2, 4-5 ।

"सौन्दर्य" गुण है जो सभी लिंगों का वाचक है। पहली परिभाषा की तरह दूसरी परिभाषा भी गुण का समान रूप से लक्षण करती है।

कुछ लोगों ने गुण की परिभाषा से संबंधित उपरोक्त दोनों श्लोकों को **गुणवचन** की व्याख्या हेतु माना है न कि गुण-युक्त विचार के लिए। उनका मानना है कि महाभाष्य में अनेक स्थलों पर 'गुणवचन' शब्द का प्रयोग मिलता है, और कुछ वैयाकरणिक रचनाएँ भी 'गुण' शब्द से बतायी गयी हैं। प्रश्न उठता है कि गुणवचन क्या है ? पतंजलि के अनुसार व्यक्तिवाचक संज्ञा, सर्वनाम, समास, कृदन्त, तद्धितान्त, जाति शब्द, संख्या ये गुण-वचन नहीं हैं। (द्रष्टव्य-महाभाष्य 5.1.124) यहां गुणवचन शब्दों के बाद 'ष्य' प्रत्यय लगाने की बात कही गयी है। समासादि शब्द में "ष्य" प्रत्यय नहीं लगता है इसलिए ये गणवचन नहीं हैं। चित्रगुप्त, अनुपगवत्व उच्चैस्त्व, सर्वत्व, गोत्व, बहुत्व, पंचत्व, दित्थत्व शब्दों में अव् के स्थान पर हम "ष्य" प्रत्यय पाते हैं क्योंकि ये शब्द समासादि पदार्थों में से किसी एक के अन्तर्गत आ जाते हैं। पतंजलि के "उपैतिऽन्यद्" सूत्र की जो व्याख्या की जाती है वह गुणवचन पद के क्षेत्र से इन कोटियों के शब्द को पृथक् करती है। कोई शब्द गुणवचन तब होता है जब वह किसी वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है, और कभी नहीं भी होता है, यद्यपि वस्तु तब भी विद्यमान रहती है और वही होती है। 'रक्त' शब्द का प्रयोग कभी-कभी किसी वस्तु के लिए होता है और कभी उसी वस्तु के लिये नहीं भी होता है। उदाहरण के लिये फल वही रहता है, किन्तु उस फल के लिए "रक्त" शब्द का व्यवहार कभी होता है और कभी नहीं भी हो सकता है। इसलिये "रक्त" शब्द गुणवचन है। इन्हीं बातों का विधान "सत्त्वे-निविशतेऽपैति" द्वारा किया गया है। इसी श्लोक का उत्तरार्ध "पृथक् जातिषुवर्तते" है, जिसकी व्याख्या में पतंजलि ने बतलाया है कि गुणवचन शब्द का एक सीमित व्यवहार हो सकता है। उदाहरण के लिए "सफेद रंग" जब गाय के लिए प्रयुक्त होता है तो उसके लिए "श्वेत" और घोड़े के लिए प्रयुक्त होने पर "कर्क" शब्द का व्यवहार होता है।[11] यद्यपि सफेद रंग के लिये ही वे दोनों व्यवहार होते हैं, इन दोनों शब्दों का भी एक सीमित व्यवहार देखा जाता है! अतः ये दोनों शब्द भी गुणवचन हैं। गुणवचन होने के लिए यह भी आवश्यक है कि गुणवचन शब्द प्रयास करने पर किसी अर्थ को व्यक्त करते हैं। प्रयास से ही, कोई वस्तु रक्त वर्ण है, यह जाना जाता है। अतः "रक्त" शब्द गुणवचन है।

संख्या को बताने वाले संख्येय गुणवचन नहीं होते, क्योंकि किसी वस्तु की संख्या को हम प्रयास विशेष से नहीं जानते हैं। पुनः, जो शब्द अक्रियाज (किसी धातु से नहीं बने) हों अर्थात् कृदन्त शब्दों को भी गुणवचन नहीं माना जाता है। जिस श्लोक में गुण की परि-भाषा की गयी है उस श्लोक के "आधेयादि" पद की व्याख्या में इन बातों को कैयट ने स्पष्ट किया है।

स्वयं पाणिनि ने कुछ वाक्य-रचनाओं, और निष्पत्तियों की व्याख्या के लिए गुणवचन का प्रयोग किया है। शब्दों के द्वारा जिस प्रकार गुण व्यक्त किये जाते हैं उसमें एक भेद

---

11. महाभाष्य 1, पृ. 433, 12–14।

किया जाता है—जिस वस्तु में गुण पाया जाता है उस वस्तु से निरपेक्ष उसकी विशेषता के रूप में शब्द गुण को बता सकता है। उदाहरण के लिए रूप और गंध साधारण शब्द हैं और ये शब्द रूपवान् एवं गंधवान् वस्तुओं से निरपेक्ष गुण को बताते हैं। जब हम इन शब्दों को सुनते हैं तो हम उस वस्तु का, जिसमें ये गुण पाए जाते हैं, नहीं अपितु उसके धर्मों का ही बोध करते हैं। किन्तु 'शुक्ल पट' में 'शुक्ल' शब्द कपड़े के सफेद रंग को ही प्रस्तुत करता है। इस शब्द का अर्थ "सफेदी" नहीं है अपितु सफेद है। कुछ कथनों जैसे—चन्दनगन्धः और ब्राह्मणस्य शुक्लः को हम समास क्यों नहीं बना सकते हैं? इसके लिए हमें गुण की परिभाषा को ही ध्यान में नहीं रखना होता अपितु शब्दों द्वारा प्रस्तुती में जो अंतर है, उसे भी ध्यान में रखना होता है। "चन्दनगंधः" में समास संभव है क्योंकि "गंध" शब्द गंध जिसमें होता है उस वस्तु से स्वतंत्र सदैव गुण (गंध) को बताता है। कात्यायन ने इसे "ततस्थगुण" कहा है।[12] चन्दनंगन्धः का व्यवहार नहीं किया जाता है क्योंकि गंध शब्द गुण के लिए प्रयुक्त होता है और किसी वस्तु में (सत्तावान् रूप में स्थित) कोई गुण सत्ता के लिये प्रयुक्त नहीं होता है।

'गंधः' की तरह 'शुक्लः' शब्द की स्थिति नहीं है। 'शुक्लः' शब्द वस्तु में निहित सफेदी को बताता है। अतः शुक्ल जैसे शब्द गुणवचन हैं और ऐसे शब्दों के पीछे ई (णीय्) प्रत्यय का प्रयोग महाभाष्य में बताया गया है एवं मतुप्या (ष्य) के लोप का विधान किया गया है।[13]

पतंजलि की उक्ति है **"सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्द निवेशस्तदभिधाने त्वतलौ."**[14] अर्थात् भाववस्तु के गुण के अर्थ में नाम धातु के पीछे त्व और तल् प्रत्यय होता है। कात्यायन ने इसे गुण का ऐसा लक्षण या गुण माना है जिसकी उपस्थिति होने पर कोई शब्द किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है। गुण वस्तु में रहता है। गुण का उपरोक्त लक्षण उस शब्द पर निर्भर करता है जिसके साथ त्व, तल् प्रत्यय जोड़े जाते हैं। गुण वस्तु का निर्धारण करता है या वस्तु को विशेषित करता है। त्व, तल् प्रत्यय से जो अर्थ व्यंजित हैं वे भेदक होते हैं। उदाहरण के लिये "रूपत्वं" शब्द में "रूप" सामान्यतया रूप-गुण को व्यक्त करता है न कि गुणवान् (वह वस्तु जिसमें गुण हो) वस्तु को। त्व प्रत्यय सामान्य को व्यक्त करता है—रूप-सामान्य जो सभी रूपों में निहित होता है। यही सामान्य दूसरी वस्तुओं से "रूप" को सामान्यतया भिन्न करता है और इसे "रूप" कहने योग्य बनाता है। जैसे—"शुक्ल" सफेद रंग के लिए प्रयुक्त हो सकता है या सफेद वस्तु के लिए प्रयुक्त हो सकता है। पहली स्थिति में "रूप" से जुड़ा "त्व" प्रत्यय सभी प्रकार के सफेद रंगों के सामान्य को व्यक्त करता है। यह सामान्य ही अन्य रंगों से इस रंग (सफेद) को भिन्न करता है और "शुक्ल" शब्द को सफेद रंग के लिये व्यवहार करने योग्य बनाता है। यदि "शुक्ल" शब्द सफेद वस्तु के लिए प्रयुक्त होते हैं जिसमें ये गुण होते हैं और "त्व" एवं "तल्" प्रत्यय जब इन शब्दों में जोड़

12. तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्,
ब्राह्मण वर्णः चन्दनगंधः पटहशब्दः नदीघोषः। महाभाष्य 1, पृ. 413, 1.1.3

13. गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्। वही 2, पृ. 394 1–7

14. वही, 2, पृ. 366, 1.10

दिये जाते हैं तो उनका अर्थ उस तरह के प्राकार हो जाते हैं जो इन वस्तुग्रों को दूसरी वस्तुग्रों से पृथक् करते हैं। अर्थात् यदि "गो" शब्द सामान्य "गोत्व" के लिय प्रयुक्त हो तो प्रत्यय स्वयं शब्द की आकृति का बोध करायेगा क्योंकि दोनों में तादात्म्य भाव होता है, और शब्द का यही आकार गुण हो जाता है जो दूसरे सामान्यों से इसे पृथक् करता है।[15] जब कोई शब्द अपने ही रूप का अध्यारोप करके अर्थ व्यक्त करता है तो आकार इसे रूप देता है और इसे दूसरे पदार्थों से पृथक् करता है और इस प्रकार वह आकार ही गुण हो जाता है। यदि गो शब्द "गो-व्यक्ति" के लिये ग्रावे तो प्रत्यय सामान्य को बताता है और इस प्रकार यह एक दूसरी जाति के पशुओं से गो-व्यक्ति को पृथक् करता है। समास, कृदन्त, तद्धितान्त केवल संबंध का बोध कभी नहीं कराते अपितु वे संबंधित वस्तु के भी वाचक होते हैं। इसलिये "त्व" प्रत्यय उनसे जब जोड़े जाते हैं तो वे संबंध को बताते हैं जो संबंधित वस्तु से दूसरी वस्तुओं को पृथक् करते हैं। "राजपुरुषत्व" शब्द में "त्व" प्रत्यय स्वामी और भृत्य के संबंध, जो कि समास पद "राजपुरुष" में निहित है, का वाचक है। इसी प्रकार पाचकत्व में "त्व" प्रत्यय "पाचन क्रिया" और "पाचनकर्त्ता के बीच संबंध" को व्यक्त करता है जो कि कृदन्त "पाचक" में सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार "औपगत्व" उपगु और उसके पुत्र के बीच संबंध के कारण "औपगत्व" कहा जाता है। औपगत्व में त्व प्रत्यय इस संबंध का वाचक है। इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि संबंध भी वस्तु की विशेषता या वस्तु के गुण को बता सकता है अथवा वस्तु को निर्धारित कर सकता है। इसीलिए संबंध भी गुण कहे जाते हैं।[16]

त्व एवं तल् प्रत्यय के द्वारा बताये जाने वाले गुण कभी जाति होते हैं, कभी एक गुण, कभी स्वयं शब्द की आकृति और कभी एक संबंध होते हैं। इनमें से किसी एक की उपस्थिति से कोई शब्द किसी वस्तु के लिये व्यवहार करने योग्य बन जाता है। इसलिये गुण को कारण माना जाता है। यह वस्तु के लिये व्यवहार किये जाने वाले एक शब्द विशेष का ही कारण नहीं है अपितु दूसरे अर्थों से इसे पृथक् करने वाला भी है। इस प्रकार गुण संबंधी वैयाकरणों का विचार वैशेषिकों के गुण-विचार से भिन्न है। वैयाकरणों ने सत्ता की दृष्टि से नहीं अपितु आकार या आकृति की दृष्टि से गुण पर विचार किया है[17] जबकि वैशेषिक सत्ता की दृष्टि से गुण पर विचार करते हैं।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् के अन्य भागों में भी कुछ वैयाकरणिक रचनाओं की व्याख्या करने के अवसर पर गुण का विवेचन किया है। उदाहरण के लिए अग्नि आदि शब्दों में ढक् आदि प्रत्ययों के संबंध की व्याख्या के अवसर पर गुण को विशेषण होने के कारण गौण अर्थ में प्रयोग किया है।[18] पुनः "ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः" के विचार को स्पष्ट

---

15. वा.प. 3, भाग 1, पृ. 366, 1.10
16. वही, 1.3-4
17. संसर्गि भेदकं यद् यत् सव्यापारं प्रतीयते ।
    गुणत्वं परतन्त्रत्वात्तस्य शास्त्र उदाहृतम् ॥ वा. प. गुणसमुद्देश 3.1.1
18. वही, भाग 1 1/64

करने हेतु उन्होंने गुण को द्रव्य के उत्कर्ष का कारण कहा है तथा इसका द्रव्याश्रित रूप में विवेचन किया है।[19] गुण समुद्देश एवं उस पर टीकाकारों एवं व्याख्याकारों के आलोक में गुण का लक्षण निम्नवत् है:[20]

(य) संसर्गी :—

गुण संसर्गी होता है। "संसर्गी" का अर्थ है किसी तरह से अपने आधार के साथ जो संबंधित हो। अर्थात् जो अपने आधार के साथ मिला हो। दूसरे शब्दों में, अपने आधार (वस्तु) से अभेद रूप से होकर गुण भेदक होता है। जैसे शुक्लः अश्वः, कृष्णः अश्वः, में शुक्ल, कृष्णादि गुणों का उनके आधार अश्व से संसर्ग होता है। अश्वादि आधारों से अलग होकर शुक्लादि गुण नहीं रह सकते हैं और आधार (अश्व) के साथ तादात्म्य रूप से रहते हुए की तरह होकर भी गुण नीलः, शुक्लः, कृष्णः आदि के भेद-व्यवहार का कारण होता है।

(र) भेदकम् :—

जो भेदक हो वह गुण है। अर्थात् जिसके द्वारा एक से दूसरा भिन्न या पृथक् किया जाता है वह भेदक गुण है। शुक्लः अश्वः, कृष्णः अश्वः, में शुक्लादि गुणों का अश्व से संसर्ग है। सभी घोड़े-घोड़े हैं किन्तु नील, शुक्ल, कृष्ण भेद से "यह लाल है", "काला है" ऐसा विभेद जिसके द्वारा होता है वह भेदक गुण है। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से, एक गुण को दूसरे गुण से और हर एक वस्तु को हर एक दूसरी वस्तु से भेद करने वाला एवं हर एक वस्तु को उसकी पहचान देने वाला गुण है। गुण का काम ही सदैव भेदन-व्यवहार है और इसीलिए इसे सव्यापार भी कहा जाता है।

(ल) सव्यापारम् :—

हमारा लौकिक जगत् का ज्ञान भेद-ज्ञान है और इस भेद-ज्ञान का आधार गुण है। गुण सभी वस्तुओं में उनके स्वरूप की तरह रहकर भेदन कार्य सदैव करते रहते हैं इसीलिये गुण को सव्यापार कहा गया है। वस्तुओं के परस्पर प्रकर्ष-अपकर्ष पूर्वक गुण का भेदन-व्यवहार होता रहता है इसलिये इसे सव्यापार कहा गया है।

(व) परतन्त्रम् :—

अधीन होने के कारण इसे गुण (गौण) कहा जाता है। गुण द्रव्याश्रित होता है। यह अश्व, घटादि के आश्रित होता है। लोकवत् परतंत्र होने के कारण व्याकरण में इसे गुण कहा जाता है। यहाँ अश्वादि प्रधान के अधीन (गौण) होने के कारण इसे गुण कहा जाता है। इस लक्षण के अनुसार "गो" में गोत्वादि भी गौण हो जाते हैं, अर्थात् गुण की श्रेणी में आ जाते हैं। यह लक्षण पारिभाषिक ही नहीं है लोक-सिद्ध भी है।

गुण की उपरोक्त परिभाषा को सर्वत्र नहीं लिया जाता है। इसलिये वैयाकरणों ने

---

19. वही, 1/63
20. गुणसमुद्देश 3.1.1 पर हेलाराज एवं अम्बाकर्त्री।

महाभाष्यकार द्वारा दी गयी "सत्त्वे निविशते:" आदि परिभाषा के आधार पर भी गुण का लक्षण स्वीकार किया है। गुण के बिना किसी वस्तु का निर्धारण नहीं हो सकता है। गुण वस्तु को केवल नाम ही नहीं देता है अपितु किसी वस्तु को दूसरों से पृथक् करने का कार्य भी करता है। शब्दों में भी एक भेदक शक्ति होती है जिसके द्वारा वे अपने को किसी भी दूसरे से पृथक् करते हैं। किसी वस्तु में निहित प्रत्येक गुण को कोई भी एक शब्द व्यक्त नहीं कर सकता है। शब्द केवल अपने वाच्य को ही व्यक्त करता है।

गुण की भेदक शक्ति पर व्याख्या करते हुए हेलाराज लिखते हैं "रूपादि में निहित गुण या जाति जिस वस्तु में रहते हैं उसे ही भिन्न नहीं करते अपितु "दण्डिनः पुरुषः में दंड भी दंडी को अन्यों से पृथक् करता है या विशिष्ट करता है।[21] गुण का कार्य क्या है ?— गुण का एक प्रमुख कार्य प्रकर्ष दिखाना है।[22] पटु, पटुतर, अधिक, कम, बहुतों में से एक, या दो में से एक रूपी भेद गुण के आधार पर होता है। पदार्थों में प्रकर्षाकर्ष नहीं होता है। यह विशिष्टता तो उन पदार्थों में रहने वाले गुणों में होती है जिससे भेद किया जाता है। गुण ही वास्तविक भेदक होता है। बलवान्, बलवत्तर, बलवत्तम का भेद शरीर के कारण नहीं होता है अपितु शरीर में रहने वाले बल के कारण होता है। समान शरीर में प्रकर्षा-पकर्ष की विशेषता नहीं होती, गुण के आधार पर दोनों में भेद किया जाता है। अर्थात् गुण का ही प्रकर्ष देखा जाता है, शरीर का नहीं।

प्रकर्ष का हेतु गुण है। किसी भी प्रधान (पदार्थ) में किसी भेदक हेतु के बिना प्रकर्ष नहीं हो सकता है और वह भेदक गुण है। अर्थात् प्रकर्ष का वाच्य गुण होता है, प्रधान नहीं।[23] 'शुक्ल' शब्द में शुक्लत्व गुण है, यही शुक्लत्व शुक्ल शब्द का वाच्य है। हेतु के बिना किसी भी प्रधान का प्रकर्ष मालूम नहीं पड़ता है। इसी तरह जाति को भी गुण कहा जा सकता है। भेद-व्यवच्छेदन में कई कारण होते हैं।[24] ब्राह्मणत्व क्षत्रिय में नहीं है इसलिये ब्राह्मणत्व भेदक गुण है। गो और अश्व भिन्न भिन्न हैं। इनमें गोत्व विजातीय भेदक है। यदि सभी गायें हैं तो उनमें रहने वाले शुक्ल, नील आदि धर्म सजातीय भेदक होंगे। शुक्लों में भी सजातीय भासुर, अभासुर धर्म होते हैं जिसके आधार पर शुक्लों का भी भेद किया जाता है–भासुरतर, भासुरतम आदि रूपों में। स्पष्ट है कि **द्रव्य में जितने भेदक हेतु हैं उनमें से कुछ सजातीय, कुछ विजातीय और कुछ स्वगत भेद से भेदन का कार्य करते हैं।**

जहां कहीं वाच्य कहा जाता है (जैसे दो में से एक को बताने के लिये "शुक्लतर" कहा जाता है) वहां यदि एक ही वस्तु होती है तो वहां "शुक्लतरं पटः" कहते हैं। यहां पट को

---

21. भेदकत्वं चात्र मुख्य गुणलक्षणम् असमवेतस्यापि दंडस्य दण्डिनि गुणत्वात् अदण्डिव्यवच्छेदेन। वही 3.1.1 पर हेलाराज।
22. द्रव्यस्याव्यपदेशस्य य उपादीयते गुणः।
भेदकोऽव्यपदेशाय तत्प्रकर्षोऽभिधीयते। वही 3.1.8
23. सर्वस्य प्रधानस्य न विना भेदहेतुना।
प्रकर्षो विद्यते नापि शब्दस्योपैतिवाच्यताम्। 3.1.3.
24. गुणसमुद्देश 3.1.4 पर अम्बाकर्त्री।

बताने के लिये ही शुक्लतरं कहा जाता है दूसरे वाचक नहीं। अर्थात् एक विशेषण से वस्तु के अन्य विशेषणों को या वस्तु के अन्य विशेषणों से एक विशेषण को व्यावृत्त करने के लिए गुण का भेदक के रूप में व्यवहार होता है। [25]

अपने आप में वस्तु में कोई प्रकर्ष नहीं होता है। अर्थात् वस्तु प्रकर्ष-विरहित होती है। उसके आश्रित गुण के आधार पर ही वस्तु को नाम दिया जाता है या उसके बारे में कुछ कहा जाता है। अर्थात् गुण के संसर्गीभाव होने से गुण के प्रकर्षादि से द्रव्य का भी प्रकर्ष आदि प्रतीत होता है। [26] यदि किसी एक विशेषण से एक ही वाच्य बताया जाता है और गुण प्रकर्ष बताकर समाप्त हो जाता है तो उसका प्रकर्ष कैसे सिद्ध होगा? कुछ गुणों की अपेक्षा कुछ गुण प्रकृष्ट होते हैं और कुछ की अपेक्षा निकृष्ट होते हैं। जो गुण निकृष्ट होता है उसकी अपेक्षा दूसरा गुण प्रकृष्ट होता है। प्रकृष्ट-निकृष्ट व्यवहार आपेक्षित होता है और गुण के कारण होता है।

यदि प्रकृष्ट में व्यापार वाले शुक्लादि को निमित्त (गुण) की अपेक्षा न हो (जिसके कारण प्रकृष्ट है) तब तो उसमें जो द्रव्य है वही कार्य का कारण होगा और द्रव्य वह है जो इदं-तत् से कहा जाय। प्रकर्ष के प्रति द्रव्य जो बताया गया वह यदि अनिमित्त है तो उपादान वही होना चाहिए। प्रकर्ष गुण का होता है, तन्मूलक द्रव्य का भेद भी समझा जाता है। द्रव्यात्मा और गुण अपने प्रकर्ष से द्रव्य को भी भिन्न करता है। उदाहरण के लिये पट भिन्न नहीं है। शुक्लादि गुण के प्रकर्ष के कारण पट भी भिन्न भिन्न किये जाते हैं। [27] इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि गुण प्रकृष्टादि है तो द्रव्य को प्रकृष्टादि क्यों कहा जाता है? भर्तृहरि की मान्यता है कि प्रकृष्ट गुण होता है किन्तु द्रव्य को भी प्रकृष्टादि कहा जाता है। जैसे अरूप द्रव्य को दूसरे के रूप के समान कह कर बतलाया जाता है उसी प्रकार अप्रकृष्ट या प्रकृष्टादि-रहित द्रव्य को गुण के प्रकर्ष से प्रकृष्टादि रूप से कहा जाता है। [28] प्रकर्ष में व्यापार युक्त हुआ किन्तु उस निमित्त की अपेक्षा नहीं की गयी जिसके कारण यह प्रकर्ष होता है। उस निमित्त को लिये बिना ही यदि गुण प्रवृत्त हुआ तो यह प्रकर्ष के प्रति अन्वर्थक होगा। "यह द्रव्य इससे बड़ा है" ऐसा कथन गुण के आधार पर ही किया जाता है। गुण का और उसकी अपेक्षा से द्रव्य का प्रकर्ष होता है। "एक संख्या की अपेक्षा दो संख्या वाला भिन्न है" अथवा "एक संख्या शब्द दूसरे संख्या शब्द से भिन्न है", में संख्या भेदक है किन्तु यह गुण में भेद नहीं करती है। गुण में गुण ही भेद करता है। उदाहरण के लिये "वीर" जो "वीर नहीं हैं", उनकी अपेक्षा "वीर" है। इसी प्रकार "साहसी" जो "असाहसी" हैं या

25. बस्तुलक्षणो तत्र विशेषो व्यापृतो यदि।
प्रकर्षो नियमाभावात् स्यादविज्ञात हेतुकः। वही 3.1.5

26. वही 3.1.6 पर अम्बाकर्त्री।

27. नापेक्षते निमित्तं च प्रकर्षे व्यापृतं यदि।
द्रव्यस्य स्यादुपादानं प्रकर्ष प्रत्यनर्थकम्॥ वही 3.1.7

28. अरूपं पररूपेण द्रव्यमाख्यायते यथा।
अप्रकर्ष प्रकर्षेण गुणस्याविश्यते तथा॥ वही 3.1.9

"कम साहसी" है उनकी अपेक्षा साहसी है। इसी प्रकार समस्त गुणों का भी भेद किया जाता है। गुणों के प्रकर्ष से वस्तु में भी प्रकर्ष प्रतीत होता है। गुण गुण का भी भेद करता है और द्रव्यादि का भी भेदक होता है।[29] और इसी आधार पर सत्ता को असत्ता(अभाव) से और अभाव को भाव से पृथक् किया जाता है। अभाव में भी प्रागभाव को प्रध्वंसाभाव से और इसी तरह अन्य अभावों से पृथक् किया जाता है। अर्थात् अभाव में भी विशेषता के कारण अनेक प्रकार के अभावों में व्यवच्छेदन-व्यवहार गुण के कारण होता है।

व्याकरण-दर्शन सत्कार्यवादी है। इसकी मान्यतानुसार जो बीज जिसमें नहीं है वह क्रिया से उत्पन्न नहीं हो सकता है जैसे—आम में अम्ल रहता है, वही पीछे चलकर सूर्य की गर्मी आदि से मधुर रस में परिपाक होता है। वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी है। इसके अनुसार गुण आकस्मिक है। किसी पदार्थ का गुण उसमें यदि पहले से ही न हो तो उस पदार्थ का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकेगा और यदि उसमें समवाय-संबंध से निहित हो तो उसे स्वतंत्र पदार्थ नहीं कहा जा सकता है। ज्ञेय और अभिधेय होने के आधार पर यदि इसे स्वतंत्र मानें तो प्रश्न उठता है कि इसका कार्य क्या है? यदि गुण पदार्थ को विशिष्ट करता है तो यह भेदक का कार्य करेगा। इस स्थिति में भेदक के रूप में पृथक् 'विशेष-पदार्थ" को मानने की आवश्यकता नहीं है और यदि गुण भेदक का कार्य नहीं करता ऐसा मानें तो पदार्थ के स्वरूप-निर्धारण में गुण की कोई आवश्यकता नहीं होगी, और यदि करता है तो भेदन-कार्य हेतु "विशेष" को अलग से स्वतंत्र पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं। यह काम गुण ही कर देगा, जैसाकि वैयाकरण–दर्शन में स्वीकार किया गया है। पुनः, विशेष क्या है? विशेष किसी वस्तु की विशेषता (पर्टीकुलैरिटी) है। विशेषता को गुण न मानना वदतोव्याघात है। अतः विशेष को गुण से निरपेक्ष पदार्थ मानना संगत नहीं है। इससे भिन्न वैयाकरणों ने गुण को द्रव्य की विशिष्टता माना है और इस विशिष्टता को भेदक संज्ञा से अभिहित किया है। इस प्रकार व्याकरण-दर्शन में गुण द्रव्यादि पदार्थों की पहचान करने एवं उनके परस्पर भेद को स्पष्ट करने की शक्ति है।

व्याकरण-दर्शन में गुण के अतिरिक्त देश, काल, संख्या तथा लिंग को भी भेदक माना गया है। प्रश्न उठता है कि इन सभी से भेदन-व्यवहार के आधार पर इनका अंतर कैसे समझा जा सकेगा? कैसे समझेंगे कि भेदन गुण के आधार पर हुआ अथवा देश, कालादि द्वारा? इसके उत्तर में वैयाकरणों की तरफ से कह सकते हैं कि यद्यपि द्रव्य के व्यवच्छेद के बहुत से कारण (देश, काल, लिंग, संख्या) हैं किन्तु वे सभी एक-साथ भेदक नहीं बनते हैं। जिसके कारण भेद विवक्षित रहता है वही वहां भेदक होता है। जिस देशकालादि बुद्धि को लेकर व्यवच्छेद (भेद) करना है वही वहां भेदक हेतु होता है। उदाहरण के लिये समासादि में संख्या आदि शब्द भी गुण-रूप होकर भेदन करते हैं। अतः यह मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि जिस बुद्धि को (देशकाल में से किसी को आधार बनाकर) लेकर व्यवच्छेद किया जाता है वही वहां व्यवच्छेदक (भेदक शक्ति) होती है।[30]

---

29. वही 3.1.9 पर अम्बाकर्त्री।
30. प्रसिद्ध वैयाकरण विद्यावाचस्पति पं. रामकरण शर्मा जी से श्रुत।

वैयाकरणों एवं वैशषिकों के गुण-संबंधी विचारों में जो प्रमुख समानता है वह यह कि गुण पदार्थ हैं, ये द्रव्याश्रित होते हैं। सामान्य में भी गुण होते हैं और विशेष में भी। वैयाकरणों से भिन्न वैशेषिकों ने विशेष को भेदक माना है। किन्तु विशेष सामान्य में नहीं होता है, अतः सामान्य का भेदन गुण के आधार पर नहीं माना जा सकता है। किन्तु वैयाकरण गुण को भेदक स्वीकार कर विशेष एवं सामान्य दोनों के भेदन की व्याख्या संगत ढंग से करते हैं। वैयाकरणों ने गुण का जो लक्षण किया है उसमें वैशेषिकों के गुण एवं विशेष दोनों के लक्षणों का समावेश हो जाता है।

वैशेषिकों के अनुसार गुण पदार्थ है। किन्तु यहां पदार्थ का अर्थ वस्तु-रूप पदार्थ है। यह ज्ञेय और अभिधेय की आधारभूत वस्तु है। अतः यहां पदार्थ "पद का अर्थ" मात्र नहीं है। इस प्रकार वैशेषिकों ने गुण का वस्तुगत अस्तित्व स्वीकार किया है। गुण की भौतिक सत्ता है या ये मानसिक संरचना मात्र हैं? अथवा मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार की इनकी सत्ता है? इस विषय पर तीनों पक्षों की सिद्धि-असिद्धि का प्रश्न विवादास्पद होता है।

व्याकरण-दर्शन गुण की सत्ता संबंधी विवादों के घेरे में नहीं आता। इनके अनुसार गुणवाची पदों का अर्थ गुण है और शब्द जिस रूप में अर्थ का बोध कराता है वही अर्थ है, पदार्थ है। लोक-व्यवहार में एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से प्रकर्ष–अपकर्ष दर्शन के लिए एवं एक पदार्थ से दूसरे को भिन्न करने के हेतु के रूप में गुण का प्रयोग होता है। पदार्थों का एक-दूसरे से भिन्न करना या होना लोक-व्यवहार में देखा जाता है। इसी अर्थ में वैयाकरणों ने गुण को द्रव्याश्रित कहा है। गुण मानसिक संरचना या कल्पना मात्र नहीं है अपितु लोक-व्यवहार में सिद्ध है। इसे द्रव्याश्रित न मानना लोक-प्रसिद्धि के विपरीत होगा और व्याकरण-दर्शन प्रसिद्धि को ही सिद्ध मानकर चलता है। इसके अनुसार प्रसिद्धि की अवहेलना करके किसी भी विचार की प्रक्रिया को लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, उल्टे विवादों के घेरे में वह अपना दम तोड़ देगी अथवा पुनः प्रसिद्धि पर आकर ही उस विचार–प्रक्रिया को लक्ष्य की प्राप्ति हो पायेगी। प्रसिद्धियों का आधार आगम (व्यवहार–परम्परा से प्राप्त) है जिसे व्याकरण-दर्शन में नित्य माना गया है। अतः प्रसिद्धियां नित्य हैं, सिद्ध हैं। गुण के संबंध में अन्य दार्शनिक दृष्टियों की तरह से वैयाकरणों की दृष्टि भी विवादमुक्त नहीं मानी जा सकती है। अन्य दृष्टियों से इसका विरोध हो सकता है। चूंकि व्याकरण गुण का जिस जिस रूप में लोक में व्यवहार किया जाता है उन्हीं रूपों की व्याख्या करता है अर्थात् लोक-आचरण के आधार पर गुण के लक्षण की व्याख्या करता है, अतः लोक-आचरण की दृष्टि से किसी का विरोध नहीं हो सकता है, यद्यपि उसकी व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की जाती है।

दर्शन विभाग,
ललितनारायण विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

नितांत प्रासंगिक विचारणीय विचार

"शरीर का सुख कैसे मिले, यही आज की सभ्यता ढूंढती है, और यही देने की वह कोशिश करती है। परन्तु वह सुख भी नहीं मिल पाता।

"यह सभ्यता तो अधर्म है और यह यूरोप में इतने दरजे तक फैल गई है कि वहां के लोग आधे पागल देखने में आते हैं।........एकांत में वे बैठ नहीं सकते।........यह सभ्यता ऐसी है कि अगर हम धीरज धरकर बैठे रहेंगे तो सभ्यता की चपेट में आये हुए लोग खुद की जलायी हुए आग में जल मरेंगे।............यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद नाशवान् है। इससे दूर रहना चाहिए। इसीलिए ब्रिटिश पार्लियामेंट बेकार हो गई है। ब्रिटिश पार्लियामेंट अंग्रेज प्रजा की गुलामी की निशानी है, यह पक्की बात है।.........."

महात्मा गांधी **हिंद स्वराज में**

सौजन्य से

श्री शंकरलाल मूंदड़ा
द्वारा–सर्वश्री बांबे स्टोर्स एजेंसीज,
जैन मार्कीट, के. ई. एम. रोड,
बीकानेर

4

संस्कृति और भारतीय धर्म-संस्कृति

हर्षनारायण

I

संस्मृत्य संसृतेः सारं सारमेवापि संस्कृतेः। सदसत्सारमाचारसारः सङ्गृह्यते नवम्। ॥1॥
ससारो बत संसारः सम्यक्सारोऽथवा पुनः। आत्मा वै संसृतेः सारः, संस्कृतिश् चात्मसंस्कृतिः। ॥2॥
स्वरूपोद्धारसारा या संस्कृतिः सैव संस्कृतिः। स्वरूपच्युतिसारा या सैश्वर्येऽप्यपसंस्कृतिः। ॥3॥
मनुर् मुहम्मदो, मार्क्सो, बुद्ध-प्लातोन-केशवाः। संस्कृति-प्रतिसंस्कृत्यै गच्छेयुर् नः सहायताम्। ॥4॥
नात्र नारायणानेव केवलं भोः! भजाम्यहम्। द्वन्द्वन्यायाद् भजाम्यत्र प्रतिनारायणानपि। ॥5॥
मानवी संस्कृतिर् द्रव्यं, गुणाः संस्कृतयोऽखिलाः। भूयान् नवगुणोपेता सा सम्यक् प्रतिसंस्कृता। ॥6॥
ऋतसत्यम्भरत्वेन भवेद् विश्वम्भरा ननु। संस्कृतिर् भारतीयाऽतः सा नाभिर्विश्वसंस्कृतेः। ॥7॥

II

मानवता को दो भागों में बांटा जा सकता है—

1. अभिशस्त, असामाजिक और समाजोत्तीर्ण/अत्याश्रमी समुदाय

2. समाज, जिसे हम मानवान्योन्यसम्बन्धजाल, व्यक्तियों की अन्योन्याश्रय सम्बन्ध राशि, अथवा उनकी अन्तस्सम्बन्धसमष्टि के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। पशुओं के 'समाज' से इसका भेद स्पष्ट है। समाज तीन प्रकार का होता है—

1. आदिम समाज/संस्कृति (प्रीमिटिव सोसायटी/कल्चर)। अंग्रेज़ी के 'प्रीमिटिव' का अर्थ होता है प्राचीन (एन्शेन्ट) और तात्पर्य पॉल देवनन्दन के शब्दों में 'मानव-पशु और मानवपशु अतिरिक्त की भेदक रेखा के निकट' (बी-इंग नियरर टु द लाइन ऑव् डिमार्केशन बिट्वीन मैन दि ऐनिमल ऐंड मैन दि ऐनिमल-प्लस)। अतः इस शब्द से चिढ़ने का कोई औचित्य नहीं। आदिम समाज को हम आदिमार्थकाम समाज के रूप में परिभाषित कर सकते हैं—

2. सभ्य समाज, सभ्यता, भौतिक संस्कृति जिसे हम सम्प्रवृद्धार्थकाम समाज, विकसितार्थकाम समाज, व्यवस्थितार्थकाम समाज अथवा वस्तुसंस्कारपरायण समाज के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। इसकी एक अन्य परिभाषा भी सूझती है—आकस्मिकता की भूमिका के उत्तरोत्तर न्यूनतिन्यूनीकरण की ओर उन्मुख/अग्रसर समाज। और एक तीसरी परिभाषा भी—मानवता के संघर्ष से सहयोग की ओर उत्तरोत्तर प्रगति।

3. संस्कृत समाज; संस्कृति; अभौतिक संस्कृति, जिसे हम अर्थकामोत्तीर्ण, आत्मसंस्कारप्रवण, धर्म-दर्शन-साहित्य-कला-कलाप-सम्पन्न समाज के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

III

आइए, अब इस प्रतिपत्ति का उपयोग संस्कृति की परिभाषा में करें। संस्कृति के कई एक सम्प्रत्यय हैं। देखें—

1. जैसा ऊपर संकेतित होता गया है, संस्कृति शब्द का व्यवहार उक्त तीनों प्रकार के समाजों के प्रति प्राप्त होता है। समाजविज्ञानी आदिम संस्कृति, भौतिक संस्कृति, अभौतिक संस्कृति जैसे शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से करते पाये जाते हैं।

2. संस्कृति शब्द का व्यवहार बहुधा केवल उक्त तृतीय प्रकार के समाज तक सीमित कर दिया जाता है।

3. संस्कृति शब्द का व्यवहार सन्दर्भ के अनुरोध से धर्म-दर्शन-साहित्य-कला-कलाप के सीमित अर्थ में भी प्राप्त होता है।

4. कभी-कभी उसका प्रयोग आत्म संस्कार मात्र के अर्थ में प्राप्त होता है।

5. आगे चल कर संस्कृति का अर्थ सिमट कर कला-कलाप, शिल्प-समष्टि, नृत्य-गीत-वाद्य तक रह जाता है। आज सरकारी तौर पर यही हो रहा है। राष्ट्रभङ्ग के बाद लोक-संस्कृति अथवा नवलोक संस्कृति (निग्रो-फोक-कल्चर) ही संस्कृति बन गयी है। वैसे इसका प्रतिरूप ब्राह्मण-ग्रन्थों में लगभग इसी रूप में प्राप्त होता है। यथा—'त्रिवृद् वै शिल्पानि—नृत्य, गीतं, वादितामिति (कौषीतकि-ब्राह्मण 29 5); 'आत्मसंस्कृतिरेब शिल्पानि छन्दोमयं वा। एतैर् यजमान आत्मानं संस्कुरुते।' (ऐतरेय-ब्राह्मण 6.27)

IV

अब संस्कृति की परिभाषा प्रकारान्तर से विचारें। संस्कृति का व्यापक, बहुआयामी स्वरूप और संस्कृति शब्द का प्रयोग-प्राचुर्य हमें इस के सम्बन्ध में अनेक दिशाओं में झांकने को बाध्य करते हैं :

(अ) विचार का व्यवस्थित रूप वाद है।

(आ) वाद का व्यावहारिक रूप दल है।

(इ) दल का स्थायी रूप सम्प्रदाय है।

(ई) सम्प्रदाय का आनुवंशिक-आनुक्रमिक रूप संस्कृति है।

(उ) आत्मचेतन, अस्मितासम्पन्न, और स्वशासित अथवा स्वावलम्बी संस्कृति ही राष्ट्र है।

V

संस्कृति की परिभाषा का एक तीसरा प्रकार भी है, जो इस प्रकार निरूपणीय है—

(अ) मानव और मानव का द्वन्द्व-जाल बर्बरता है।

(आ) मानव और प्रकृति का द्वन्द्व-जाल सभ्यता है।

(इ) देवत्व और असुरत्व/पशुत्व का द्वन्द्व-जाल संस्कृति है।

(ई) देवत्व का स्रोत धर्म है।

मनुष्य देवत्व और असुरत्व/पशुत्व का सङ्गम है। उसका पशु हिंसा, द्रोह और द्वेष भड़काता है; उसका देव अहिंसा, अद्रोह और अद्वेष की ओर ले जाता है। इनका संघर्ष ही संस्कृति है।

VI

संस्कृति की परिभाषा का चौथा और अन्तिम प्रकार जो मुझे सूझता है वह इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है :—समाज की सूत्रात्मा जो धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि में अभिव्यक्त होती रहती है, और सभ्यता जिसका शरीर है। यह एक अमूर्त आध्यात्मिक सम्प्रत्यय है जो धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि द्वारा अभिव्यक्त होने के लिए विकल और संघर्षरत रहता है, किन्तु कभी पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इसे हम मूल्य-योनि की भी संज्ञा दे सकते हैं।

VII

अब धर्म की ओर आइए। तदर्थ पहले मानव-मस्तिष्क की एक विशेषता की चर्चा आवश्यक है।

मानव-मस्तिष्क का वाम गोलार्द्ध (लेफ्ट हेमीस्फ़ियर) बहिर्मुखी वृत्ति अथवा गति रखता है और **वैषयिक** ज्ञान का निर्वहन करता है। वह ज्ञान दो प्रकार का होता है—

1. प्रत्यक्ष, जिसे हम आदिवैज्ञानिक (प्रोटो-सायन्टिफ़िक) ज्ञान कह सकते हैं।

2. तार्किक, जिसे वैज्ञानिक, गणितीय, शिल्पीय/तकनीकी भी कह सकते हैं।

मानव-मस्तिष्क का दक्षिण गोलार्द्ध प्रायः अन्तर्मुखी वृत्ति अथवा गति रखता है और **विषयि परक**/आत्म-परक ज्ञान का निर्वहन करता है। वह ज्ञान दो प्रकार का होता है—

1. प्रातिभ अथवा मूल्यात्मक ।

2. अखण्ड और आस्तित्विक ।

विज्ञान का सम्बन्ध प्रत्यक्ष और तार्किक ज्ञान से है, जब कि नैतिकता का प्रायः प्रातिभ ज्ञान से और धर्म का अखण्ड, आस्तित्विक ज्ञान से । दर्शन का सम्बन्ध इन सभी की व्याख्या से है ।

VIII

आठवीं शती के बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित का मत है कि सभी मतवादी धर्म की कणाद-कृत परिभाषा से सहमत हैं । कणाद की परिभाषा है—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । (वै. सू. 1.1.2) शान्तरक्षित का श्लोक है—

यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर् यतो निःश्रेयसस्य च ।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः ।। (तत्त्वसंग्रह 3485)

किन्तु किसमे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है, जिसे धर्म की संज्ञा दी जाय ? यह अस्पष्ट रह जाता है ।

जैमिनि की परिभाषा है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' । (मी. सू. 1-1-1) हम देखेंगे कि यह परिभाषा हमें पर्याप्त दूर तक ले जाती है, किन्तु अपने मूल्य रूप में नहीं बल्कि कान्ट आदि द्वारा प्रस्तावित परिभाषा से परिशोधित होकर ।

कांट लिखता है :—"धर्म....अपने सभी कर्त्तव्यों का ईश्वराज्ञा के रूप में स्वीकरण है । सच्चे धर्म में अनुशासनों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता; अर्थात् उन व्यावहारिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त जिनकी निरपेक्ष आवश्यकता का हमें बोध हो सकता है, और जिन्हें तदनुसार ही हम ईश्वर-प्रेरित स्वीकार करते हैं (बाह्यानुभववत् नहीं बल्कि) शुद्ध विवेक द्वारा ।"[1]

कुर्आन में धर्म के लिए 'दीन' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है जो कई प्रकार से व्युत्पन्न और व्याख्यात हुआ है । एक मत के अनुसार उसकी धातु 'दान लि' है, जिसका अर्थ है वशवर्ती अथवा प्रपन्न होना, आज्ञाकारी होना । इस प्रकार दीन भी उस कर्तव्यराशि का नाम ठहरता है जिसका आदि स्रोत दैवी प्रेरणा है और जिसके लिए किसी हेतु की अपेक्षा नहीं होती । वस्तुतः कुर्आन की आयातुऽल्-मुह्कमात इसी कोटि की आयतें मानी जाती हैं ।

किन्तु दैवी अध्यादेश पुस्तकस्थ नहीं हैं, मनुष्य की अन्तरात्मा में स्थित हैं जबकि जैमिनि और इस्लाम का आग्रह इन्हें पुस्तकस्थ मानने पर है । यह भेद स्मरणीय है ।

इसी से सम्बद्ध, बल्कि इसी में बद्धमूल, सम्प्रत्यय है पवित्र और अपवित्र, पुण्य और पाप का सम्प्रत्यय, जो उपयोगी और अनुपयोगी के सम्प्रत्यय से सर्वथा भिन्न है । पवित्र और पुण्य का संग्रह अनिवार्य और निरपेक्ष होता है, अपवित्र और पाप का त्याग और भी अनिवार्य और निरपेक्ष होता है, जबकि उपयोगी का संग्रह किया तो क्या, न किया तो क्या; अनुपयोगी

---

1. कांट-"रिलिज्यन विदिन लिमिट्स ऑव रीज़न अलोन ।"

का त्याग किया तो क्या, न किया तो क्या ? संसार की बातें हैं, थोड़ा लाभ पर्याप्त है, बड़ी हानि भी झेल लेंगे—यह मनोभाव धार्मिक मनोभाव से तत्त्वतः भिन्न है। उदाहरण लें। एक सम्प्रत्यय है जीवन के प्रति पवित्रता की भावना अथवा भक्ति-भाव (रेवरेन्स फ़ॉर लाइफ़/ सैंक्टिटी ऑव् लाइफ़)। दूसरा सम्प्रत्यय है मनुष्य की निरपेक्ष पवित्रता। तीसरा है व्यक्ति अपना साध्य स्वयं है। इन सम्प्रत्ययों की स्वीकृति के लिए बाधित करने वाला हेतु क्या है ? अमुक व्यक्ति विशेष के लिए इसका उपयोग क्या हो सकता है ? राष्ट्र के लिए हो सकता है, किन्तु राष्ट्र के लिए अपना जीवन सत्यानाश क्यों करें ? तर्क से तो लोकतन्त्र की बाध्यता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। स्वतन्त्रता, समता, विश्वबन्धुत्व, न्याय, मानवीय एकता, मानव की महिमा (डिग्निटी) अन्ततः धर्म-बुद्धि की उपज हैं। अलबत्ता, धर्म-तत्त्व से हमारा तात्पर्य है वह जो अन्तरात्मा की आवाज़ के नाम से प्रसिद्ध है, धर्म-संस्थान, संस्थाबद्ध धर्म से नहीं।

कोई यहां यह शङ्का उठा सकता है कि अनेक धर्मनिरपेक्ष अथवा धर्म-विरोधी अनेक धर्मवादियों की अपेक्षा अधिक आदर्शपरायण दिखायी देते हैं। रसेल, नेहरू रॉय, आचार्य नरेन्द्रदेव के उदाहरण दिये जाते हैं। इसके सम्बन्ध में कथ्य यह है कि धर्म-बुद्धि मानव की जातीय सम्पत्ति है। वह उसके अन्तश्चेतन में अनुस्यूत है। और नैतिकता की निरपेक्षता तो सभी स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना है कि धर्म में अनास्थावान् व्यक्ति नैतिकता की लौकिक, भौतिक-उपयोगितावादी व्याख्या करते हैं, जबकि धर्मवादी उसका मूल उत्स अन्तरात्मा अथवा किसी अदृश्य सत्ता में देखते हैं। अस्तु, इतना तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि लौकिक आधार पर नैतिकता की अनिवार्यता स्थापित नहीं की जा सकती।

आगे कतिपय अन्य तथ्य भी आयेंगे जिनसे इस बात की पुष्टि होगी कि धर्म और अध्यात्म की ठोस भूमि के बिना नैतिकता की अट्टालिका खड़ी ही नहीं हो सकती। नैतिकता में जो आवश्यकता, अवश्यकर्तव्यता, अनन्यगतिकता, अपरिहार्यता का अंश है वह धर्म और अध्यात्म का ही योगदान है। लौकिक फलाफलविचार, मस्लहत-विचार, में ऐसा नहीं होता, मस्लहत के अनुसार तो सब कुछ मनमाने ढंग से बदला जा सकता है।

IX

और विशुद्ध भौतिकता के आधार पर किसी उच्चस्तरीय संस्कृति की सृष्टि सम्भव नहीं प्रतीत होती। सभ्यता बन सकती है। भौतिकवादी संस्कृति अन्ततः सभ्यताकीकृत होने को बाध्य है। विशुद्ध भौतिकवादी संस्कृति का भविष्य नहीं।

वस्तुतः समसामयिक विसंस्कृतीकरण के मूल में मुख्यतया भौतिकता-दृष्टि ही कार्यरत दिखायी देती है।

सभ्यता भोग की वस्तु है। संस्कृति के मूल में भोगैश्वर्य प्रसक्ति का किसी न किसी सीमा तक त्याग अपेक्षित होता है।

भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य भौतिक तत्त्वों के एक संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं। चकबस्त इसे इस प्रकार रखेंगे—

जि़न्दगी क्या है ? अनासि़र में ज़ुहूरे तर्कीब
मौत क्या है ? इन्हीं अज्ज़ा का परीशाँ होना

एक पश्चिमी लेखक मनुष्य के निर्माण का एक नुस्ख़ा देता है—

दस गैलन के एक पीपे भर जल;
साबुन की सात बट्टियों भर चर्बी;
1000 लेड-पेन्सिलों भर कार्बन;
माचिस की 2200 तीलियों के सिरों भर फ़ास्फ़ोरस;
एक औसत कील भर लोहा;
मुर्ग़ियों के एक दर्बे की सफ़ेदी भर चूना; और
मैंगनेशियम और गन्धक की लघु मात्राएं।

बस आदमी बन कर तैयार। इससे मानव-मानवता के नाम से जो पवित्रता का भाव जुड़ा हुआ है वह निराधार हो जाता है। फ़ारसी का शायर इस दृष्टिभङ्गी पर कटाक्ष करते हुए प्रेयसी से कहता है—

गर दिल ब-मज़्हबे तू हमीं गोश्त-पारः ईस्त
क़स्साबे शह्र बेह ज़े तू दानद बहा-ए दिल

अर्थात्—'हे प्रेयसि ! यदि तेरी निगाह में मेरे हृदय की हैसियत मांस के एक टुकड़े से अधिक नहीं है तब तो नगर का क़साई इसका मूल्य तेरी अपेक्षा अधिक ठीक लगायेगा ! बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित की एक कारिका है—

नर्तकीभ्रूलताभङ्गो नैवैकः परमार्थतः।
अनेकाणुसमूहत्वादेकत्वं तस्य कल्पितम्।। (तत्त्वसंग्रह, 200)

अर्थात्—नर्तकी का भ्रूविलास अणुओं का संघात मात्र है; वह अपने में कोई वस्तु ही नहीं जिससे चमत्कृत हुआ जाय। यह पूछे जाने पर कि इधर से कोई स्त्री गुज़री है ? बुद्धघोष के अनुसार भिक्षु का उत्तर है—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघातो गच्छते स महापथे।। (विसुद्धिमग्ग 1.49; भाग 1, पृ. 67)

अर्थात्—यह तो मैं नहीं जानता कि इधर से पुरुष गया है अथवा स्त्री, किन्तु एक अस्थिसंघात अवश्य जा रहा है !

वस्तुतः भौतिकवाद केवल भौतिक तत्त्व को मान्यता देता है। वह मन, बुद्धि, अहन्ता-ममता आदि को भौतिक तत्त्व की जीवनी का एक अध्याय मात्र, भौतिक तत्त्व की जीवन-यात्रा का एक पड़ाव मात्र, मानने के पक्ष में है। यदि इस दृष्टिभङ्गी के निहितार्थों को निष्कृष्ट किया जाय तो मानव का सारा महत्त्व किरकिरा हो जाता है। जब सब कुछ 'मैटर' है तो कुछ भी 'मैटर' नहीं करता। संस्कृति प्रकृति का ही एक क्षणभङ्गुर आवेश मात्र होकर रह जाती है।

वस्तुतः मनुष्य 'मैटर' को अतिक्रान्त करने के लिए बाध्य है, वहां भी जहां वह 'मैटर' के पीछे भागता दिखायी देता है। आसी ग़ाज़ीपुरी का शेर है—

तुम्हीं सच-सच बताओ कौन था शीरीं के पैकट में ?
कि मुश्ते ख़ाक की ह्स्रत में कोई कोहकन क्यों हो ?

अर्थात्—शीरीं के शरीर में मिट्टी के अतिरिक्त कुछ और होना चाहिए। अन्यथा एक मुट्ठी मिट्टी के पीछे फ़र्हाद पहाड़ क्यों खोद डालता ?

वस्तुतः यदि मनुष्य का अवमूल्यन हो जाय तो उसकी हैसियत एक मुट्ठी राख के तुल्य हो जाती है। और यदि उसकी सम्भावनाएं चरितार्थ हो जायं तो वह ब्रह्माणु से भी बड़ा हो जाता है--

घटे अगर तो बस एक मुश्ते ख़ाक है इन्साँ,
बढ़े तो वुसअ़ते कौनैन में समा न सके।

रूमी की मस्नवी है—

पस ब-सूरत आदमी फ़र्अ़्-ए जहाँ,
दर सिफ़त अस्ले जहाँ ईं रा बि-दाँ।

अर्थात्—देखने में तो मनुष्य प्रकृति अथवा ब्रह्माण्ड-वृक्ष की एक टहनी मात्र प्रतीत होता है, किन्तु उसे वस्तुतः उसका मूल समझना चाहिए।

जोड का एक मार्मिक वाक्य है, "यदि यही जीवन सब-कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो यह दिक्कालावच्छिन्न वस्तुओं से भरा संसार एक ऐसा भद्दा मज़ाक है जो हमारी समझ के परे है, एक वीभत्स अट्टहास है जो रहस्यों के परे घुमड़ रहा है।"

जब तक मूल्यों का मूल उत्स दृष्ट और श्रुत के परे न सिद्ध हो तब तक उनके लिए अपने 'एकमात्र जीवन' की बाज़ी लगाने को कोई उन्मत्त ही कटिबद्ध हो सकता है।

वस्तुतः भौतिकवाद जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने में सक्षम नहीं है। लक्ष्य जब उपयोगिता के आधार पर निर्धारित होता है तो कोई भी लक्ष्य चलेगा, और किसी भी लक्ष्य के साथ पवित्रता की भावना नहीं जुड़ सकती, जिससे प्रेरित होकर कोई तदर्थ जीवन की सुख-समृद्धि, जीवन ही, उत्सर्ग कर देने को सन्नद्ध हो जाय। यही कारण है कि बाबर कहता है—

बाबर ब- ऐश कोश कि दुनिया दुबारा नीस्त

अर्थात्—"बाबर ! भोग-विलास में लग, संसार दुबारा नहीं मिलने वाला है।"

ऑस्कर वाइल्ड की एक कहानी है। ईसा ने एक बार देखा कि एक व्यक्ति शराब पीकर नाली में मदहोश पड़ा है। उन्होंने पूछा—अपना जीवन इस प्रकार क्यों बर्बाद कर रहे हो ? वह बोला—प्रभो ! मैं कोढ़ी था, आपने अच्छा कर दिया, अब करना ही क्या है, शराब का आनन्द ले रहा हूँ। फिर ईसा ने एक व्यक्ति को एक वेश्या के पीछे भागता देखा और उससे पूछा—अपना जीवन व्यभिचार में क्यों नष्ट कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया—प्रभो ! मैं अन्धा था, आपने आंखें दे दीं, अब मुझे करना ही क्या है, व्यभिचार ही में मग्न हूँ। एक

तीसरा व्यक्ति रोये ही जा रहा था। ईसा ने पूछा—तुम रोने में समय क्यों नष्ट कर रहे हो? उत्तर मिला—मैं मुर्दा था, आपने जिन्दा कर दिया, अब करना ही क्या है, रोये ही जा रहा हूँ।

आप किस आधार पर कहेंगे कि ये लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्तियों के उदाहरण हैं? लक्ष्य-वैविध्य की एक बानगी रूमी ने दी है—

> क़िब्ल—ए अर्बाबे दुनिया सीमो ज़र
> क़िब्ल—ए शाहाँ बुवद ताजो गुहर
> क़िब्ल—ए सूरत-परस्ताँ आबो गिल
> क़िब्ल—ए मा'नी-शिनासाँ जानो दिल
> क़िब्ल—ए आशिक़ विसाले बे-ज़वाल
> क़िब्ल—ए आरिफ़ जमाले ज़ुल्-जलाल

अर्थात्—दुनियादारों का लक्ष्य है चाँदी-सोना, राजाओं-महाराजाओं का मुकुट और मुक्ता, बाह्य सौन्दर्य के उपासकों का मिट्टी और पानी (से बना शरीर) आभ्यन्तर सौन्दर्य के उपासकों का जान और दिल, प्रेमी का अविनश्वर संयोग और ज्ञानी भक्त का तेजोमय का सुखद साक्षात्कार। इसी प्रकार ऋग्वेद (1 113.6) प्रभुत्व ('क्षत्र'), कीर्ति ('श्रवस'), महत्ता, व्यवहार कौशल को विविध व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के रूप में वर्णित करता है।

X

अब भारतीय धर्म-संस्कृति के स्वरूप की ओर आते हैं।

हमने ऊपर दिखलाया है कि राष्ट्र संस्कृति से भिन्न नहीं होता—अस्मिता-सम्पन्न, आत्म-चेतन और स्व-शासित संस्कृति की ही संज्ञा राष्ट्र है। अतः राष्ट्र देश मात्र नहीं होता, भारत भी देश मात्र नहीं है। हमने कहीं लिखा है—

संस्कृतिर् भारतं नः स्याद्, देशमात्रं न भारतम्

संस्कृति-निरपेक्ष राष्ट्रीयता खोखली राष्ट्रीयता है। राष्ट्र-स्वातन्त्र्य का अर्थ है संस्कृति-स्वातन्त्र्य। अतः हमारे लिए भारत केवल एक भौगोलिक सम्प्रत्यय नहीं, एक मूल्य-विज्ञानात्मक सम्प्रत्यय है—

मूल्यं वै भारतं नः स्याद्, देशमात्रं न भारतम्

नेहरू ने कभी कहा था "हम लोग न केवल जनतान्त्रिक पद्धति से देश के औद्योगीकरण में लगे हुए हैं बल्कि भारतीय दर्शन और जीवन-विधा की मौलिकता का संरक्षण भी करना चाहते हैं।"

अतः राष्ट्रीय संस्कृति परिभाष्य, परिपोष्य और परिरक्ष्य है। अन्यथा साम्प्रदायिकता जातीयता, क्षेत्रीयता दुर्निवार होगी। संस्कृति की एकात्म भावापादक आस्था और आत्म-विश्वास के पतन से संस्कृति का विघटन और पतन हो जाता है। तदर्थ भारतीयता-रूपी जाति-सामान्य के समुत्कर्ष की विकट समस्या से जूझना अनिवार्य है। हमारा शासन तन्त्र राष्ट्रीय

दायित्व को संस्कृति से पृथक् करके देखता है। उसमें सांस्कृतिक दायित्व शून्य ही बैठता है। उसमें सांस्कृतिक दायित्व की चेतना जगानी चाहिए। सांस्कृतिक दायित्व-बोध राष्ट्रीय दायित्व-बोध का प्राण है। अभी राष्ट्र-शरीर से राष्ट्रात्मा का योग नहीं हुआ। इक़बाल का कथन है—

कि रूहे शर्क़ बदन की तलाश में है अभी

और मेरा –

तलाशे रूह में है जस्दे हिन्द सरगर्दां

मैं समझता हूँ यदि राष्ट्र का अपनी संस्कृति से शीघ्र योग नहीं हुआ तो उसका खण्डखण्डीकरण और पतन ध्रुव है—

बस एक क़दम उठा था ग़लत राहे शौक में
मन्ज़िल तमाम उम्र मुझे ढूँढती रही।

भारतीय संस्कृति को आजकल सामासिक संस्कृति, सम्मिश्र संस्कृति, कम्पोज़िट कल्चर कहने का पचड़ा चल पड़ा है। इस में सारा ज़ोर "हिन्दू-मुल्लिम गंगा-यमुनी' संस्कृति पर है। मैंने एक पुस्तिका में इसकी विस्तृत समीक्षा की है। यहां अत्यंत संक्षेप में स्वमन्तव्य प्रकट करना अपेक्षित जान पड़ता है। मैं मानता हूँ कि राष्ट्र की "अभिमानी" संस्कृति राष्ट्रीय संस्कृति, अथवा राष्ट्रीय संस्कृति की मूलधारा, बृहत्तर हिन्दुत्व है, शेष "संस्कृतियाँ" "अनुशयी" संस्कृतियाँ हैं। बौद्ध, जैन और सिक्ख संस्कृतियाँ उपसंस्कृतियाँ मात्र हैं। प्राचीन लोकायत अपनी संस्कृति अथवा उपसंस्कृति नहीं बना सका। आधुनिक लोकायत अधिक से अधिक एक उपसंस्कृति के रूप में प्रकट हो रहा है। सामी संस्कृतियाँ भारत में विसंस्कृतियाँ अथवा प्रतिसंस्कृतियाँ सिद्ध हुई हैं। इन में से ईसाई संस्कृति अलबत्ता अपने को बृहत्तर हिन्दुत्व से किसी न किसी सीमा तक जोड़ने की इच्छुक प्रतीत होती है।

बृहत्तर हिन्दुत्व का सम्प्रत्यय विचारणीय है, और अभिमानी तथा अनुशयी का भेद भी।

आज हिन्दुसंज्ञाभिमानी, बल्कि हिन्दुसंज्ञाभाक् छह वर्गों में बांटे जा सकते हैं—

1 सनातनी, जिन में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, सन्तमतावलम्बियों आदि को समेटते हुए हिन्दुओं के सभी नये-पुराने सम्प्रदाय आ जाते हैं।

2. धर्म में विशेष आस्थावान् न होने पर भी विशुद्ध राष्ट्रवाद के आधार पर हिन्दू कहे जाने वाले। ये लोग भारत के भूगोल, इतिहास, और अन्य सब कुछ का अङ्गीकार करते हैं।

3. भारतीय इतिहास और परम्परा में आस्थावान् प्रवासी भारतीय।

4. केवल भारत में बसने के कारण अपने को हिन्दू मानने वाले, जैसा कभी सर सय्यिद ने दावा किया था।

5. आदिवासी।

6. हिन्दू परम्परा तथा अन्य धार्मिक परम्पराओं में अनास्थावान् व्यक्ति, जो हिन्दू परिवार में जन्म लेने और हिन्दुओं के बीच अधिक स्वतन्त्र महसूस करने के कारण हिन्दू बने हुए हैं।

इन सभी को समेटने वाली परिभाषाएँ भी देने का प्रयत्न किया गया है। यथा—गांधीजी के अनुसार "सत्य की खोज अहिंसक साधनों द्वारा", नेहरू के अनुसार "जियो और जीने दो", सावरकर के अनुसार "भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानने की प्रवृत्ति" ही हिन्दुत्व का लक्षण है। तिलक आदि के द्वारा प्रस्तावित लक्षण इतने व्यापक नहीं हैं। मेरी परिभाषा है—

योऽङ्गीकरोत्यनायासं भारतीयां परम्पराम्।
सनातनीमपूर्वां वा स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

अथवा

भारतमूलीय धर्मदर्शनसंस्कृत्युत्तराधिकाराभिमानित्वं हिन्दुत्वम्।

ठीक है, किन्तु इन से हिन्दू संस्कृति की मूलधारा/मूलधाराओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

वस्तुतः जिसे हम बृहत्तर हिन्दुत्व कहते हैं उसकी तीन प्रायः सहोदर मूल-धाराएँ हैं, जो परस्पर पृथक् होकर इस प्रकार निरूपणीय थीं—

1. अवैदिक धारा
(1) लोकायत
(2) आसुर
(3) आजीविक
(4) पार्श्वनाथी-महावीरी।

2. अर्द्धवैदिक
(1) आर्षभ (ऋषभदेवीय)
(2) ताथागत
(3) कापिल साङ्ख्य
(4) यौग

3. वैदिक-औपनिषद्

इन तीनों धाराओं का मूल उत्स मनु का धर्म प्रतीत होता है जिस पर आरूढ़ रहने की प्रार्थना ऋग्वेद में भी प्राप्त होती है—

मा नः पथः पित्र्यान् मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः।[1] (ऋ. 8.3.30)

अब उक्त तीनों मूल धाराओं का पर्यवसान जिस महाधारा में हो गया है उसे हिन्दुत्व या बृहत्तर हिन्दुत्व कहते हैं, जिसका मूल दर्शन अद्वैत वेदान्त है।

वस्तुतः बृहत्तर हिन्दुत्व की सिद्धि के प्रयत्न जाने-अनजाने सदा होते रहे हैं। बानगी लीजिए—

1. बृहस्पति को देवताओं का गुरु मानकर लोकायत के हैन्दवीकरण का प्रयत्न किया गया।

2. ऋषभदेव को विष्णु का अवतार मानकर जैन धर्म का हैन्दवीकरण किया गया।

3. निमित्त शाखा का प्रणयन कर बुद्ध का देवत्व स्वीकृत किया गया और उन्हें विष्णु का अवतार घोषित करके बौद्ध धर्म का हैन्दवीकरण किया गया।

4. तुरुष्क शाखा का प्रणयन कर विदेशियों के हैन्दवीकरण का पथ प्रशस्त किया गया।

5. ब्राह्मणों से दूर हो जाने के कारण क्रियालोप द्वारा क्षत्रिय जातियों के वृषलीकरण का सिद्धान्त उद्भावित कर के वन्य जातियों, संस्कारच्युत समुदायों, को बृहत्तर हिन्दुत्व का मार्ग दिखलाया गया और व्रात्यस्तोम द्वारा उनकी धर्मदीक्षा का प्रयत्न किया गया।

वस्तुतः बृहत्तर हिन्दुत्व की चेतना यहां निरन्तर बनी रही और किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति पाती रही। भारतीय संस्कृति की एकता और अखंडता इसी भावना की ऋणी है।

वर्तमान हिन्दुत्व अथवा बृहत्तर हिन्दुत्व के तत्त्वज्ञान में मानव का सम्प्रत्यय अद्वैत दृष्टि से अनुप्राणित है। उस के अनुसार मनुष्य एक सूक्ष्माण्ड (माइक्रोकॉज़्म) है, एक ब्रह्मांश (फ्रैगमेन्टरी टोटैलिटी) है, अनन्त सम्भावनाओं का भण्डार है, पूर्णता का धाम है, प्रच्छन्न ब्रह्म है—

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठमिवासते ।। (अथर्व 11. 8. 32)

अर्थात् विद्वान् मनुष्य को ब्रह्म मानते हैं, क्योंकि इसमें सारे देवता उसी प्रकार निवास करते हैं जैसे गोशाला में गायें।

यहां आत्मा अथवा ब्रह्म की कमी बौद्ध दर्शन में निर्वाण की कल्पना से पूरी हो जाती है।

हमारी सांस्कृतिक दृष्टि मनुष्य को तीन अथवा चार ऋणों से ऋणी उत्पन्न देखती है: जिन का निर्यातन किये बिना मनुष्य का कल्याण नहीं। वे ऋण हैं—देव ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, और मनुष्य-ऋण। कहा गया है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।। (मनु. 6. 35)

अर्थात् इन ऋणों को चुकाये बिना परमार्थ की कामना-पूर्ति तो दूर, मनुष्य का अधःपतन ही हो जाता है।

यहीं से हिन्दू-धर्म संस्कृति की संस्कार-दृष्टि होती है। सभ्यता का मूल मन्त्र है वस्तुसंस्कार। भौतिकवादी संस्कृति भी वस्तुसंस्कार-प्रवण संस्कृति है। इस के विपरीत भारतीय संस्कृति आत्म-संस्कार, व्यक्ति-संस्कार, वैयक्तिक साधना पर अधिक ज़ोर देती है। मार्क्स आदि का आग्रह था कि वस्तु-परिवर्तन और व्यवस्था-परिवर्तन के बाद व्यक्ति-परिवर्तन स्वतः सिद्ध हो जायेगा। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आया। रूस में प्रायः सत्तर वर्ष तक बोल्शेविक-कम्यूनिस्ट व्यवस्था लागू रहने के बाद भी वहां का मुस्लिम समाज उतना ही कट्टर साम्प्रदायिक सिद्ध हो रहा है जितना पहले था। मार्क्स के पास सब कुछ है किन्तु व्यक्ति-संस्कार का कोई कार्यक्रम नहीं है। वस्तुतः यह लोकव्यवस्था के सभी पश्चिमी ब्ल्यू-प्रिन्ट्स के

प्रति चरितार्थ होता है। प्लातोन (प्लेटो) को व्यक्ति-संस्कार की आवश्यकता की कुछ-कुछ चेतना थी। केवल भारतीय लोकव्यवस्था ऐसी रही है जिस में इस के लिए पूरा प्रबन्ध प्राप्त होता है। ब्राह्मण का सारा जीवन साधनामय होना अपेक्षित था, आत्मसंस्कारमय होना अपेक्षित था। वस्तुसंस्कार सर्वसाधारण के ज़िम्मे था, जिस की संज्ञा वैश्य पड़ी थी। दोनों के बीच में क्षत्रिय शक्ति-संस्कार का धनी होता था, वह शक्ति-संचार का दायित्व वहन करता था, जिससे आत्मसंस्कार और वस्तुसंस्कार में बाधा न पड़ने पाये।

इसके अतिरिक्त, व्यक्ति-संस्कार का सब से बड़ा माध्यम आश्रम-व्यवस्था थी। शिक्षार्थी का जीवन साधनामय था, वानप्रस्थ और संन्यासी का और भी, किन्तु ग्रहस्थ भी इन की सेवा-शुश्रूषा द्वारा अपना संस्कार सिद्ध करता था।

संस्कार-सिद्धान्त को हम यूँ रखते हैं। संस्कृति संस्कारमूलक होती है। संस्कार कई प्रकार के होते हैं—वस्तु-संस्कार, व्यवस्था-संस्कार, व्यक्ति-संस्कार। व्यक्ति-संस्कार का प्रखर रूप आत्म-संस्कार है और व्यापक रूप जीवन-संस्कार। मार्क्स आदि की लोकव्यवस्था में वस्तु-संस्कार और व्यवस्था-संस्कार पर बल है, उस में आत्म-संस्कार, व्यक्ति-संस्कार जीवन-संस्कार को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। यही स्थिति संसार की अन्य लोकव्यवस्थाओं की है। अतः ये सारी लोक-व्यवस्थाएं एकाङ्गी-एकायामी, हो कर रह जाती हैं, केवल भारतीय लोक-व्यवस्था आत्म संस्कार,-व्यक्तिसंस्कार, जीवन संस्कार-प्रवण लोकव्यवस्था है। इस का परिमार्जित पुनरुद्धार अपेक्षित है।

मानव-मूल्यों का व्यवस्थापन लोकव्यवस्था की एक विकट समस्या है। मैं देखता हूँ मूल्यों के सुन्दर समविकास का जो प्रयत्न भारतीय संस्कार ने किया है वह अन्यत्र अलीक है। देखिए, मूल्यों-आदर्शों का विरुदगान, उपदेश, सर्वत्र प्राप्त होता है, किन्तु उन्हें संस्थापित कैसे किया जाय, संस्थाबद्ध कैसे किया जाय; इस के विषय में अन्य संस्कृतियाँ प्रायः मौन हैं। पाश्चात्य उदारवादी परम्परा ने लोकतन्त्र को इस का माध्यम बताया है। लोकतन्त्र द्वारा अनेक मूल्य पर्याप्त सीमा तक संस्थाबद्ध हुए हैं—स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता, न्याय, मानव की प्रतिष्ठा और उस का अपना साध्य स्वयं होना—ऐसे मूल्य बहुत कुछ चरितार्थ हुए हैं। तथापि लगता है कि वर्तमान लोकायत/सेयुक्लरवाद ('लोकाय बुद्धि तनोति'–**अर्थशास्त्र-जयमङ्गला** 1. 2) इन मूल्यों के लिए दार्शनिक आधार प्रस्तुत करने में अक्षम है। लोकतन्त्र के साथ समाजवाद जोड़ देने से भी यह कमी पूरी होती नहीं प्रतीत होती। पश्चिम में एतद्विषयक ऊहापोह पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। अनेक विचारक यहां इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि यदि लोकतन्त्र को बचाना है तो हमें एक ऐसे जीवन-दर्शन की आवश्यकता है जो तदर्थ भावावेग उद्दीप्त करता रहे।

बर्नार्ड शॉ का मत था कि शासन-प्रशासन की सब से बड़ी समस्या है किसी विश्वसनीय मनुष्य-मापक यन्त्र की खोज। चुनाव-तन्त्र तदर्थ अप्रभावी सिद्ध हो रहा है। प्रतिनिधि कहां से लायें ? आज का मतदाता जो भी खड़ा हो गया उसी को चुनने के लिए अभिशप्त है। अच्छे व्यक्ति समाज को निरन्तर उपलब्ध होते रहें, इस के लिए आधुनिक लोकव्यवस्था में कोई प्रावधान नहीं है। भारतीय संस्कृति ने आश्रम-व्यवस्था उद्भावित कर के इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न किया था। क्या उस का कोई अद्यतनीकृत संस्करण हमारे काम का नहीं हो सकता ? खेद है कि हमारे लोकचिन्तक इस बात को यूँ ही उड़ा देते हैं।

चातुराश्रम्य के दो भाग हैं—गार्हस्थ्य और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम शेष तीनों के लिए व्यक्ति की तैयारी का आश्रम है और वानप्रस्थ आश्रम संन्यास की तैयारी का। हम चार को तीन कर सकते हैं— प्रथम दो तो सर्वत्र स्वीकृत ही हैं। अन्तिम आश्रम समाज की अन्तरात्मा समझना चाहिए। यह सही व्यक्तियों को उपलब्ध कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। निःस्पृह, निस्स्वार्थ लोकसेवी वर्तमान जटिल समाज में यूँ ही नहीं पैदा हो सकते, तदर्थ सजग आयोजन की अपेक्षा है। आधुनिक शिक्षाव्यवस्था में व्रत-भावना (सेन्स ऑव् मिशन) से भावित व्यक्तित्व के निर्माण की कोई योजना नहीं है।

चाहे समाजवाद हो, चाहे अन्य कोई लोकव्यवस्था, ऐसे मनीषियों की सदा आवश्यकता रहेगी जो स्वार्थ-संग्रह पर लोक-संग्रह को वरीयता दें। भय और लोभ से परे व्यक्ति ही समाज का सही मार्गदर्शन करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे महापुरुष कहां से आयेंगे? तदर्थ समाज के एक वर्ग, एक समुदाय को इसी रेखा पर दीक्षित करना होगा। प्राचीन काल में ब्राह्मण, संन्यासी दार्शनिक इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। आज सब शिकायत करते हैं—भई, सब ऐसे ही हैं, सब एक ही जैसे हैं, 'लूटो मेरे भाई!' का दौर दौरा है। समाज में मनीषा की एक स्थायी निधि होनी चाहिए। ऐसी निधि से निकले व्यक्ति राजनीतिकीकरण, व्यावसायिकीकरण की महामारी से असंस्पृष्ट रह सकते हैं। इस महामारी के प्रकोप के परिणाम स्वरूप आज इस देश में जयप्रकाश, आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे मनीषियों के बाद शायद एक भी मनीषी नहीं रह गया है जिस से राष्ट्र सही मार्गदर्शन की आशा कर सके। उस दिन एक मुस्लिम प्रोफेसर ने पूछा कि तीन नाम बताइए जिन्हें रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद-विवाद में सालिस (मध्यस्थ) बनाने का प्रस्ताव किया जाय। मुझे एक भी नाम नहीं सूझा। सब राजनीति करते, तुष्टीकरण और मुँह देखी करते, वोट पर निगाह रखते, सस्ती ख्याति अर्जित करते पाये जाते हैं। मैं बड़ों की बात कर रहा हूँ। छोटों में अब भी मनीषियों की कमी नहीं है। परन्तु उन्हें कौन सुनेगा?

आत्मसंस्कार-प्रवण लोकव्यवस्था ही लोकसंग्रह-प्रवण मनीषा के लिए उर्वर भूमि हो सकती है।

यहाँ भारतीय संस्कृति के एक अन्य पक्ष की ओर बरबस ध्यान चला जाता है जिस का प्रस्तुत विषय से घना सम्बन्ध है। उस की थोड़ी चर्चा आवश्यक है।

संस्कृति, विशेषतः भारतीय संस्कृति, के विकास का पर्यालोचन करने पर संस्कृति का एक विशेष आयाम उद्घाटित होता है जिस के आधार पर संस्कृति की एक सूक्ष्मतर परिभाषा जन्म लेती है जो वस्तुतः भारतीय संस्कृति पर विशेष रूप से लागू होती है। देखिए-जड़ प्रकृति का प्रकर्ष चेतन प्रकृति में प्राप्त होता है, चेतन प्रकृति का मानव-प्रकृति में, और मानव-प्रकृति का संस्कृति में। संस्कृति का अर्थ है मानव की गति-प्रगति, हिंसा से अहिंसा की ओर, स्व से पर की ओर, करुणा से महाकरुणा की ओर, महाकरुणा से बोधिसत्त्वोचित लोक-संग्रह की ओर, लोक-संग्रह से परिनिष्पन्न आत्मौपम्यदृष्टि की ओर, अन्ततः आत्मौपम्यदृष्टि से आत्मैक्यदृष्टि की ओर। करुणा नीति-धर्म, आचारशास्त्र का विषय है, जबकि महाकरुणा से लेकर आत्मैक्य तक के सोपान मोक्ष-धर्म के विषय हैं। डार्विन ने संघर्ष-सत्य का साक्षात्कार किया, क्रोपाटकिन ने सहयोग सत्य का, और भारतीय मनीषा ने करुणा, महाकरुणा,

लोक-संग्रह, आत्मौपम्य, और आत्मैक्य सत्यों का। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को हम अपने एक प्रकाशित लेख के आधार पर नीचे तालिकाबद्ध करते हैं—

आत्मैक्यदृष्टि का उन्मेष

I. नीतिधर्मीय क्रम—

1. हिंसा से अहिंसा की ओर
    1) प्राणिहिंसा से अ–प्राणिहिंसा/अ–व्यापाद की ओर
    2) द्रोह से अद्रोह की ओर
    3) संघर्ष से सहयोग की ओर
    4) असहिष्णुता से सहिणुता की ओर
2. स्व से पर की ओर
    1) स्वार्थपरता से परोपकार की ओर
    2) उपेक्षा से सहानुभूति की ओर
    3) सहानुभूति से करुणा/अनुकम्पा/दया की ओर

II. मोक्षधर्मीय क्रय—स्वपरोत्तीर्ण (स्व-पर-उत्तीर्ण) परमार्थ की ओर

1) करुणा से महाकरुणा की ओर
2) महाकरुणा से बोधिसत्त्वोचित लोक-संग्रह की ओर
3) लोक-संग्रह से परिनिष्पन्न आत्मौपम्यदृष्टि को ओर
4) आत्मौपम्य दृष्टि से परिनिष्पन्न आत्मैपम्यदृष्टि की ओर

हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति में मानवोत्कर्ष की सभी भूमियों को यथोचित स्थान प्राप्त है। घोर निवृत्तिवादी मूल जैन-परम्परा का सारा आग्रह अहिंसा पर है। किन्तु इस की अहिंसा करुणामूलक नहीं, संयममूलक है। वह करुणा को सावद्य, सदोष, और मुनिधर्म-विरुद्ध मानती है। इस के विपरीत भागवतों और बौद्धों, तथा औपनिषदों, के अहिंसावाद में करुणा का विशेष आग्रह पाया जाता है। गीता और महायान में लोक-संग्रह और आत्मौपम्यदृष्टि की भी प्रधानता है। किन्तु आत्मैक्यदृष्टि का पूर्णचन्द्र कतिपय वैदिक ऋचाओं, आरण्यकों, उपनिषदों गीता, योगवासिष्ठ, भागवत, तथा परवर्ती वेदान्त-परम्परा में उदित पाया जाता है।

बटलर के अनुसार करुणा के तीन घटक हैं—

1. सद्यः उपस्थित अथवा सम्भावित दुःख से मुक्ति का ध्यान कर के सूक्ष्म सन्तोष की अनुभूति,,
2. उक्त दु ख की भविष्य में उत्पत्ति की सम्भावना से भीति, और
3. वास्तविक समवेदना अथवा सहानुभूति

इस वास्तविक समवेदना का मूल क्या है? यहां भारतीय आत्मौपम्य-दृष्टि, आत्मैक्य-दृष्टि, सर्वात्म-दृष्टि का आश्रय लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। शान्तिदेव ने आत्मौपम्य-दृष्टि के आधार पर ही बोधिसत्त्वादर्श की स्थापना की है। नागार्जुन ने चतुःस्तव (3.40) में बुद्धों और जीवों की तात्त्विक अभिन्नता का आधार लेकर जीवों में समता-भाव का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—

बुद्धानां सत्वयातोश् च येनाभिन्नत्वमर्थतः
आत्मनश् च परेषां च समता तेन मे मता ।।

करुणा अधिक व्यापक और गहम होकर महाकरुणा बन जाती है। बोधिसत्त्वों और बुद्धों की महाकरुणा सम्पूर्ण जगत् के लिए प्रवृत्त होती है।

अन्ततः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि पूरी भारतीय संस्कृति इन महनीय गुणों का आगार है और कि उस में कोई विगुणता नहीं है। कोई भी संस्कृति इतनी पूर्ण, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वविगुणता-विवर्जित नहीं होती। सभी गुण-दोष सभी संस्कृतियों में विद्यमान होते हैं। किन्तु संस्कृति का संस्कृतित्व उस के प्रकृष्ट रूप में ही निहित होता है और हमने उसके प्रकृष्ट रूप की ही मीमांसा करने का प्रयास किया है। वस्तुतः कोई भी संस्कृति इतनी पूर्ण हो ही नहीं सकती कि उसे अन्य संस्कृतियों से कुछ लेने की आवश्यकता न हो, और न ही कोई संस्कृति ऐसी हो सकती है जिस में कोई विशेष अनुकरणीय गुण न पाया जाए।

इस लेख का अन्त इक़बाल के एक फ़ारसी शेर और उस के संस्कृत श्लोकानुवाद के साथ करना चाहता हूँ—

गुमाँ मुबर कि ब–पायाँ रसीद कारे मुग़ाँ
हज़ार बादः–ए ना.ख़ुर्दः दर रगे ताक अस्त
विद्धि नाद्यापि शौण्डिन्याः कार्यं निःशेषतां गतम्।
सहस्रशस् त्वनिष्कृष्टाः सुरा द्राक्षाशिरासु भोः ।।

42/59 रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
लाला उमराव सिंह पार्क,
नरही, लखनऊ–226001

पुस्तक समीक्षा

सत्ताविषयक अन्वीक्षा : लेखक यशदेव शल्य प्रकाशक–भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली 1987, वितरक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ. सं. 236, मू० 75/–

शल्यजी की पुस्तक **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** निस्संदेह दर्शनशास्त्र के आरंभिक अध्येताओं के लिए नहीं है। चिंतन के विस्तार और सघनता ने इसे इतना अधिक जटिल बना दिया है कि यह केवल दर्शन के मर्मज्ञों के ठीक-ठीक समझ में आ सकने योग्य है। वैसे यह पुस्तक एक और दृष्टि से भी जटिल है–भाषायी अभिव्यक्ति की दृष्टि से। शायद शल्यजी चाहते तो इस संबंध में दुरूहता को काफी कुछ कम किया जा सकता था। अवश्य तब पुस्तक के कलेवर में कुछ वृद्धि हो जाती। पारिभाषिक शब्दावली के बीच भटकता पाठक तब भी इसके लिए लेखक का आभारी होता।

पुस्तक में प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से इसे मोटे तौर पर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, तत्त्वमीमांसा विषयक विषय (अध्याय दो से छः तक)। द्वितीय, ज्ञानमीमांसात्मक विषय (अध्याय सात से दस तक)। तृतीय, उपर्युक्त तत्त्वमीमांसात्मक और ज्ञानमीमांसात्मक विषयों के संदर्भ में स्पष्ट हुए दृष्टिकोण के आधार से मानव-व्यक्तित्व, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान एवं कला-विषयक दार्शनिक व्याख्या (अध्याय ग्यारह से पंद्रह तक)।

उपर्युक्त सभी विषयों पर अपने विचारों को लेखक ने "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" का नाम दिया है। पुस्तक के प्रवेश खंड में सत्ता को 'भाव्य-भाव' कह कर तत्त्व, ज्ञान, व्यक्तित्व, मानव-सृजनात्मकता के विविध क्षेत्रों के स्थिर व गतिशील आयामों की व्याख्या को एक-समान धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास स्पष्ट है। इस तरह समग्र दर्शन के लिए सत्ता का विचार आधारभूत है। विषय, भावना, ज्ञान, भोग, सिद्धांत, मूल्य और पारमात्मिक के आयाम चित् में सत् के ही प्रकाशक हैं। इस सत् या सत्ता से ही हमारा सर्वप्रथम साम्मुख्य होता है, जो इसीलिए स्वतःस्पष्ट एवं मूल प्रदत्त होने से दार्शनिक चिंतन मात्र के लिए आधारभूत है।

सत् या सत्ता के तात्त्विक स्वरूप के बारे में लेखक का प्रतिपादन इस प्रकार है : (1) सत्ता किसी भी स्तर पर इंद्रिय-ग्राह्य नहीं है। (2) सत् अपने आद्य-बोध में जितना

सहज है, वैचारिक प्रत्यय के लिए उतना ही दुर्बोध्य तथा गहन है। (3) आगंतुक भाव असद्-विशिष्ट सत् है जबकि पूर्ण सत् अनिवार्य है। कोई भी विशिष्ट वस्तु असत् से परिवेष्टित है और इसलिए आगंतुक भाव है। वह अपने प्रत्यय में भी आगंतुक है, अर्थात् अपने प्रत्यय के लिए पर्याप्त नहीं है। दूसरी ओर, आहंकारिक चित् अनिवार्य तो नहीं है किन्तु आत्म-अपर्याप्तता से युक्त होने पर भी भाव्य रूप होने के कारण अल्पभावात्मक न होकर 'भूमा' है। इस तरह सत् का मान न तो मनुष्य है और न ही जगत्। सत् का मान केवल ईश्वर, ब्रह्म, या शून्य ही हो सकता है, क्योंकि केवल वही इतर-व्यावृत्त न होने से आत्म-अपर्याप्तता से परे है।

जगत्-भाव के संबंध में लेखक का मत है कि वह सत् चैतन्य में सत् प्रवृत्ति है जो इंद्रिय और बुद्धि के माध्यम से भौतिक वस्तु-जगत् का सर्जन करती है। भौतिक सत्ता में बाह्यता की सहज स्वीकार्यता है, अर्थात् वह इंद्रियविषय-ग्राह्यता से प्राक् है। हमारा इंद्रिय-विषय-ग्रहण चेतना की बाह्योन्मुख प्रवृत्ति का परिणाम है और हमारी बुद्धि भी इसी प्रवृत्ति की पोषक है। इंद्रिय-विषयक जो बाह्यता केवल प्रवृत्तिमूलक है वह विचार में चेतना से पृथक् विषय के रूप में ग्राह्य होकर वस्तुनिष्ठ स्थिरता के रूप वाली बनती है। यहाँ लेखक के चिंतन पर कांट का स्पष्ट प्रभाव है। किन्तु जब वे इस संदर्भ से आगे बढ़ कर भौतिक जगत् के प्राकृतिक होने पर विचार करते हैं तो 'प्रकृति-तत्त्व' की अपनी व्याख्या में वे पारंपरिक भारतीय दर्शन सांख्य से प्रभावित जान पड़ते हैं। तदनुसार वे प्रकृति को 'अनात्म' और 'इतरता' का स्वरूप वाला कहते हैं। इतरता प्रकृति की अनपचेयता और अनिवार्यता की स्वीकृति है। वह विषयात्मक तत्त्व है और वह सब विषय है जो आत्म का बाह्य व्यावर्त्तक या बाधक है। इसके विपरीत अनात्म मूल्यात्मक अनवधान-जन्य आत्मविमुखता और इसलिए आत्मपरक दोषकारक है। लेखक के अनुसार प्रकृति की इन दो व्याख्याओं के आधार से सांख्य एवं वेदांत के प्रकृति-संबंधी दृष्टिकोणों के भेद को भी समझा जा सकता है।

इस तरह लेखक के अनुसार, चित् और सत् के बीच एक चिरकालीन व्यवधान की स्थिति पायी जाती है। इस व्यवधान के निराकरण की स्थिति को ही वे 'तत्त्वमीमांसा' कहते हैं। वस्तुतः इसमें "हम आत्म-व्यवधान के तथ्य से ही जूझते हैं और समग्र आत्म-व्यवहितत्व को साधना चाहते हैं।" (पृ० १०४) चिंतन की इस विधा को स्वयं मनुष्य के उसके अपने स्वरूप-बोध के लिए महत्त्वपूर्ण कहा गया है, क्योंकि मनुष्य अपने अस्तित्व में किसी तत्त्व का प्रतिफलन न होकर तत्त्व-मात्र का आत्मावगमन है और इसी अवगमन का सम्यक्-असम्यक् चरितार्थन उसका अपना तत्त्व है। इसीलिए मनुष्य अपने तत्त्व का निषेध करने में भी समर्थ है (जैसा कि आधुनिक अस्तित्ववादी भी मानते हैं)। इस तत्त्वावगमन के क्रम में मनुष्य ज्ञानमार्गी या भक्तिमार्गी, कलाकार या वैज्ञानिक, अथवा तत्त्वमीमांसी या तत्त्वमीमांसा-विरोधी दार्शनिक हो सकता है।

'ज्ञातृत्व' के संबंध में लेखक मुख्यतः प्रेक्षकत्व तथा प्रेक्ष्य के मध्य न पाटी जा सकने वाली खाई की चर्चा करता है। इस चर्चा में प्रसंगवश ज्ञानमीमांसा संबंधी कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं एवं उनके निराकरण के प्रयासों का समीक्षात्मक विवरण भी समाविष्ट है। प्रेक्षकत्व विषय-ग्रहण की ससीमता को उजागर करता है जबकि प्रेक्ष्य ज्ञान में विषयता की असीमता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। प्रेक्षकत्व के संदर्भ में अस्मिता-बोध के अंतर्गत विषयी के

स्वरूप का भी विचार किया गया है जबकि प्रेक्ष्य और प्रेक्षकत्व के बीच अभेद्य खाई के चलते ज्ञान में सदैव संदेह तथा भ्रमों की विद्यमानता की बात कही गयी है। संदेह और भ्रम विषय-ग्रहण की सीमितता तो सूचित करते ही हैं, साथ ही उस सीमा की अतिक्राम्यता भी दर्शाते हैं। सीमा लेखक की दृष्टि में एक अभावात्मक भाव है, असत्-अस्तित्व है। ग्रहण की विद्यमान स्थिति अविद्यमान ग्राह्य स्थिति से व्यवहित है। यह ज्ञानगत व्यवधान वस्तुतः मानव-चेतना में उपलब्ध सामान्य व्यवधान का ही एक पक्ष है। चेतनागत इसी व्यवधान में, लेखक के अनुसार, मूल्यान्वेषण का बीज अंकुरित होता है। तदनुसार, मूल्य अभाव का बोध तथा भाव की पर्येषणा है। मूल्य उस पूर्ण की एषणा है जिसकी अविद्यमानता अभाव-बोध की जनक और उसकी सार्थकता की उद्भासक है। पुनः, इस अभाव-बोध में सत् की अपर्याप्तता को प्रासंगिक माना गया है, क्योंकि मूल्यान्वेषण के लिए मात्र अस्तित्वगत अभाव पर्याप्त नहीं है, और चूंकि सत् की अपर्याप्तता का संबंध आत्मगत न्यूनता है, इसलिए सभी मूल्यान्वेषण अंततः आत्मान्वेषण ही है। दार्शनिक, वैज्ञानिक या धार्मिक व्यक्ति सत्यान्वेषण में, कलाकार सौंदर्यान्वेषण में, समाजसुधारक कर्मात्मक अन्वेषण में वस्तुतः आत्म-कल्पित आत्म-प्रतिमा के अस्तित्व में चरितार्थन के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होते हैं। (पृ० १३२)

ज्ञान के संबंध में लेखक का मत है कि वह तथ्य-विषयक होता है जबकि मूल्य प्रतिमान-विषयक होता है। तथ्य अस्तित्त्व-विषयक है और मूल्य तथ्य न होकर वह है जो तथ्य को होना चाहिए। काल की दृष्टि से तथ्य विद्यमानता है और मूल्य भाव्यता। तथ्य को उसकी पूर्णता में देखना ही मूल्य-दृष्टि है और मनुष्य ही ऐसी भाव्यता की दृष्टि रखता है जिससे वह आध्यात्मिक सत्त्व वाला बनता है, जो इसीलिए सत्ता में गुरुतर है किंतु अस्तित्व में क्षीणतर। आध्यात्मिक अस्तित्व वाला मनुष्य ही आत्मविदित होता है और ऐसा आत्मविदित मानव-चित्त ही जगत् का मूल्य, सत्त्व और अन्वेष्य होने के साथ-साथ उसका आधार-तत्त्व तथा नियामक भी है। चूंकि मनुष्य का अपना चित्त पूर्णतः पारदर्शी नहीं होता उसके ज्ञानात्मक और मूल्यात्मक भ्रम हो सकते हैं, वह असत्-विद्ध हो सकता है, किंतु वह असत् अजेय न होकर केवल दुर्जेय है। मनुष्य में ईश्वरत्व की संभावना इसीलिए है क्योंकि वह असत्-बाधा को समाप्त करने में सक्षम है। दूसरी ओर, लेखक इस अस्तित्त्ववादी धारणा से भी सहमत जान पड़ता है कि मात्र मनुष्य के लिए ही ज्ञान और मूल्य के क्षेत्रों में सत्-असत् का द्वंद्व होना यह सिद्ध करता है कि केवल वही आत्मविदित एवं स्वतन्त्र है।

मानव-व्यक्ति की सत्ता को लेखक मूल्यात्मक मानता है। अर्थात् वह आदर्श से परिभाषित है। व्यक्ति युगपद् रूप से आत्म-साम्मुख्य और पर-साम्मुख्य के बीच अपनी प्रतिमा या प्रतिमान के आक्षेप का फल है। चूंकि यह प्रतिमा स्वतःप्रमाण न होकर प्रमाणापेक्षी है, व्यक्ति स्वयं अपने अस्तित्व में अव्यवस्थित और आधाररहित होता है। इस तरह का व्यक्तित्व शक्ति, इन्द्रिय-सुख आदि की साधना से लक्षित होता है और इसके चलते व्यक्ति ही नहीं संस्कृतियां भी भ्रांत हो सकती हैं। किन्तु इसी कारण से मनुष्य भाषा, विज्ञान, कला आदि के माध्यमों से क्रमशः अधिकाधिक अर्थों के आंतर वैभव की ओर अग्रसर भी हो सकता है और होता है। वस्तुतः चूंकि मनुष्य अपने-आप में अपना पर्याप्त अर्थ नहीं रखता वह अपनी प्रतिमा

अपनी संस्कृति से प्राप्त करता है। अर्थात् मनुष्य साधारणतः समाज-अपेक्षी होता है। समाज एक चैत्त-सत्ता है जिसका केन्द्र व्यक्ति-चित्त न होकर जाति-चित्त है। व्यक्ति-चित्त और जाति-चित्त का सहज सम्बन्ध उनमें सन्निहित संकल्पमूलक स्वतन्त्रता है, जबकि दोनों के बीच अन्तर यह है कि व्यक्ति-चित्त कर्त्तव्य द्वारा आक्षिप्त आत्म-प्रत्यय या प्रतिमान है और जाति-चित्त देश-काल में विकीर्ण मानव-व्यक्तियों की एकरूपता का प्रतिमान है। भाषा में, लेखक के अनुसार, यह जाति-चित्त सर्वाधिक स्पष्ट है, जो सांस्कृतिक एकरूपता को अभिव्यक्त करती है। आत्म-प्रत्यय का मूल लक्षण आत्म-सर्जना है, जबकि संस्कृति में इस लक्षण का रूप है सृजन-परम्परा। सृजन-मात्र का मूल तत्त्व है मूल्य का चरितार्थन। सृजन की इस भाव्योन्मुखता से मूल्यान्वेषण सम्भव होता है जो मनुष्य के इतिहास-बोध, विज्ञान-बोध एवं कला-बोध में भी द्रष्टव्य है। इतिहास अतीत घटनाओं का विवरण मात्र न होकर अतीत की चेतना की वर्तमान में भाव्योन्मुखता है। यहाँ व्यक्ति-चित्त और जाति-चित्त एक ही बिन्दु पर समेट लिये जाते हैं, अर्थात् आत्म-चेतना के केन्द्र-बिन्दु पर। दूसरी ओर, विज्ञान, जो घटनाओं को सिद्धान्त के उदाहरण के रूप में देखता है, प्रस्तुत को ही स्वरूप और सत्ता से युक्त न मानकर, उसे स्वरूप और सत्ता को अभिव्यक्ति देने वाला मानता है। किन्तु विज्ञान के इस पूर्व-कल्पित दृष्टिकोण की व्याख्या केवल दार्शनिक दृष्टि से ही सम्भव है, और तब विज्ञान की सीमित तत्त्व-दृष्टि को दार्शनिक असीमित तत्त्व-दृष्टि में बदलता हुआ देखा जा सकता है जिसका आधार मूल्यान्वेषी आत्म-चेतना है, जैसाकि प्लेटो और हाइडेगर ने बताया है। इतिहास और विज्ञान दोनों से ही अलग कला भावना-मूलक होती है तथा वास्तव को लक्षित न कर विषय का कल्पना द्वारा आक्षेप करती है। किंतु कला की ऐसी स्थिति में भी विषयिता का विषयि-भाव में मनन या चिन्तन होता है जो बिम्बात्मक प्रत्ययों के माध्यम से निष्पन्न होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि शल्यजी ने अपनी **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** में दार्शनिक चिंतन का एक विराट् दृश्य-पटल प्रस्तुत किया है जिसमें इतिहास, समाज, संस्कृति, विज्ञान, कला से सम्बन्धित मानव-चेतना का सूक्ष्मग्राही तात्त्विक विश्लेषण तो मिलता ही है, साथ ही उसके अन्तर्गत प्लेटो एवं हेगल की निरपेक्ष सत्तामीमांसा का, हाइडेगर एवं सार्त्र की आधारभूत सत्ता-मीमांसा का भी एक समन्वित रूप देखने में आता है जिसे उनके चिंतन की एक मौलिक उपलब्धि कहा जा सकता है। इस प्रयास में उन्हें सांख्य, वेदांत, विज्ञानवाद जैसी भारतीय चिंतन-धाराओं से प्रभूत सहायता मिली है, और इसका उन्होंने भरपूर उपयोग भी किया है। उनका यह प्रयास हमें अनायास के. सी. भट्टाचार्य की चिंतन-विधा की याद दिलाता है। किन्तु जबकि के सी. भट्टाचार्य की मूल उपलब्धि किन्हीं महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य दार्शनिक प्रत्ययों और सिद्धांतों-समस्याओं को भारतीय दार्शनिक प्रत्ययों और सिद्धांतों के माध्यम से हमारे लिए अधिक सहज रूप से बोधगम्य बनाने में है, शल्यजी ने इन सबको एकरूप, समन्वित दार्शनिक दृष्टिकोण में ढालकर हमारे सामने रखा है। इसके लिए उन्होंने हुस्सर्ल-हाइडेगर की तरह मानव-केन्द्रित चेतना की आधार वाली सत्तामीमांसा को, जो मूलतः सर्जनात्मक और इसलिए भाव्योन्मुखी एवं मूल्यान्वेषी है, अपने चिंतन का आधारभूत तत्त्व माना है। मानव अपनी चेतना की गहराई और विस्तार में एक-साथ व्यष्टि रूप भी है और समष्टि रूप भी, और इन दोनों ही रूपों की अपनी मौलिकता है। दोनों ही मानव-रूप हैं क्योंकि वे संकल्प-स्वातन्त्र्य-युक्त होने से समान-

रूपेण भाव्योन्मुख हैं । किन्तु जबकि एक में व्यक्ति-ग्रांतरिकता का तत्त्व विशिष्ट है तो दूसरे में व्यक्ति-समुदाय की एकसूत्रता का तत्त्व । दूसरी ग्रोर, यह भी द्रष्टव्य है कि विज्ञान, जिसे साधारणतः बाह्य विषय-वस्तु की अपेक्षा से वस्तुनिष्ठ माना जाता है, मूलतः मानव-चेतना की सर्जनात्मक भाव्योमुखता से ही सम्भव हो पाता है । कांट ने इसे मानव-जीवन से निरपेक्ष शुद्ध बुद्धि के आधार से स्थापित करने का प्रयास किया था किन्तु ग्रब फिनामिनलॉजी के दार्शनिक चिंतन से यह पर्याप्ततः स्वीकार्य हो चुका है कि विज्ञान सहित मानव ज्ञान के सभी क्षेत्रों में वस्तुनिष्ठता का अन्तिम निकष मानव-चेतना की भाव्योन्मुखता में स्पष्ट हुई ग्रात्म-प्रतिमा या प्रतिमान है । शल्यजी अपनी ग्रन्वीक्षा में इसी फिनामिनालॉजिकीय अभिमत के काफी करीब जान पड़ते हैं ।

ग्रन्त में, शल्यजी द्वारा स्वीकार्य कतिपय उन मान्यताग्रों की चर्चा करनी चाहिए जो ग्रस्पष्ट या भ्रमपूर्ण जान पड़ते हैं । मुझे लगता है कि दार्शनिक चिंतन प्रायः सर्वत्र ही 'सत्' ग्रौर 'सत्य' के बीच ग्रभेद-दृष्टि रख कर एक महत् दार्शनिक भ्रम का शिकार हुआ है, ग्रौर शल्यजी को भी इसका ग्रपवाद नहीं कहा जा सकता । जब वे कहते हैं कि वस्तुगत सत् सदैव ग्रपने प्रत्यय में ग्रपर्याप्त होता है तो यह सत्य तो ग्रवश्य है, किंतु यह उस सत् का स्वरूप-लक्षण न होकर मानव-ग्रवगमन का स्वरूपलक्षण है । इस सन्दर्भ में शल्यजी ग्रौर अरस्तू (द्रष्टव्य ग्ररस्तू का वैपरीत्य का सिद्धांत) समान रूप से भ्रमित है । हेगल इस दृष्टि से ग्रधिक सही है क्योंकि वह सत् सम्बन्धी द्वन्द्वों, निषेधादि को बौद्धिक प्रत्ययगत विपर्ययों एवं संश्लेषों के ग्राधार से समझता है । ग्रवश्य शल्यजी सत्ता मात्र को ही भाव्य रूप मान कर हेगल के ग्रधिक समीप जान पड़ते हैं किंतु तब सत् को चित् में प्रकाशित कहने का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि चित् के प्रकाश में ही भाव्यता के दर्शन होते हैं, जबकि चित् से ग्रलग भी सत् का ग्रपना स्व-गत स्वरूप बना रह सकता है । सत् के सत् बना रह सकने के लिए चित् में उसका प्रकाशन ग्रनिवार्य नहीं है, यद्यपि 'सत्य' बन सकने के लिए ऐसा होना आवश्यक है । पुनः, केवल सत्य ही प्रमाणापेक्षी होता है, सत् नहीं । सत् तो ग्रपने ग्रर्थ में शुद्धतः सत्तामूलक है, किन्तु सत्य (सत्+य), ग्रर्थात् जिसे मनुष्य के लिए सत्-रूप होना चाहिए, अपने ग्रर्थ में सत्तामूलक न होकर मानव-ग्रपेक्षामूलक है । कांट द्वारा स्वगत वस्तुरूप ग्रौर ग्रनुभवमूलक वस्तुरूप का ग्रन्तर (चाहे उसने यह ग्रन्तर अपनी ज्ञानमीमांसात्मक विवशताओं के चलते किया) इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंतर है । स्व-गत सत् या सत्ता, जैसाकि विट्गेन्स्टाइन ने कहा, रहस्यात्मक है; उसके विषय में कोई भी व्याख्या— चाहे वह दार्शनिक, वैज्ञानिक या कलात्मक हो, व्यर्थ है । स्व-गत वस्तुरूप में शुद्ध सत्ता मूलतः अपारदर्शी है (द्रष्टव्य सार्त्र की 'बींग इन-इटसेल्फ' की ग्रभिधारणा) ग्रौर इसीलिए उसके सम्बन्ध में ज्ञानमूलक जिज्ञासा सदैव नवीन बनी रह सकती है । दूसरी ओर, स्व-गत मानव-ग्रात्मा सम्बन्धी शुद्ध सत् उसके लिए पूर्णतः पारदर्शी तो ग्रवश्य है किंतु वह ग्रपनी मौलिक निस्सारता के कारण किसी भी विशिष्ट व्याख्या से बंधी नहीं रह सकती, जैसा कि पहले बौद्ध चिंतन में और ग्रभी समकालीन ग्रस्तित्त्व-वादी चिंतन में स्पष्ट किया गया है । मनुष्य की सत् सम्बन्धी सतत भाव्यता ग्रौर मूल्यापेक्षिता का रहस्य बिना उसे मूलतः निस्सारता के लक्षण वाला माने नहीं सुलझाया जा सकता । इसीलिए मानव-संदर्भ में अपर्याप्तता अवगमनात्मक प्रत्ययमूलता वाली न होकर स्वरूपगत ही

है, और यही कारण है कि उस संदर्भ में तथा उसके द्वारा स्थापित अर्थवत्ता के संदर्भ में बौद्धों ने सत् की शून्यता और अस्तित्त्ववादियों ने सत् की एब्सर्डिटी की बात कही है। कभी-कभी ऐसा लग सकता है कि इस दृष्टिकोण से इतिहास, विज्ञान, समाज, सस्कृति, कला आदि की अर्थ-विशिष्ट अवगमन-संस्थानों के रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती। किंतु वास्तव में ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य द्वारा अर्थ-रचना के लिए शून्य या एब्सर्ड की आधारभूमि उतनी ही उर्वर हो सकती है जितनी कि किसी भी शुद्ध भाव्य-भाव रूप सत्ता की। अतः सत्ताविषयक अन्वीक्षा में शल्यजी का दृष्टिकोण कुछ-कुछ एकपक्षीय जान पड़ता है। विशेषतः उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को एक व्याख्या पर आधारित 'सत्य' की कोटि में रखना अधिक समीचीन होगा, न कि सत् या सत्ता की व्याख्या या अन्वीक्षा की कोटि में।

—राजेन्द्र प्रसाद पांडेय

आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
रायपुर विश्वविद्यालय, रायपुर (म. प्र.)

उन्मीलन-गोष्ठियों के विवरण ×

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन विभाग में 7.3.1991 को सम्पन्न इस बैठक में निम्नलिखित ने भाग लिया :

(1) प्रोफेसर दयाकृष्ण, (2) डा. नन्दकिशोर शर्मा, (3) डा. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, (4) डा. प्रकाशकुमार श्रीवास्तव, (5) डा. मुकुन्द लाठ, (6) डा. (कु.) सरला कल्ला, (7) डा. (श्रीमती) भगवती राव, (8) डा. (श्रीमती) सरल झिगरन, (9) डा. कन्हैयालाल शर्मा (संयोजक) तथा (10) प्रस्तुत लेखक । इस गोष्ठी में मेरी नवीनतम पुस्तक **नागार्जुनकृत माध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी: युक्तिपरीक्षा और सिद्धान्त-विमर्श** की प्रस्तावना तथा 2 प्रकरणों पर विचार होना प्रस्तावित था किन्तु प्रस्तावना पर ही विचार-विमर्श ने पूरा समय ले लिया । आरम्भ में मैंने पुस्तक का एक सामान्य परिचय दिया जिसके बाद डा. नन्दकिशोर शर्मा, डा. भटनागर तथा डा. लाठ ने दर्शन में प्रातिभ और तर्क के सम्बन्ध को लेकर प्रश्न उठाये । इन में डा. लाठ का प्रश्न था कि क्या प्रातिभ दर्शन, कला आदि सब क्षेत्रों में एक ही प्रकार का होता है और कला दर्शन और तर्क का विषय बनता है या कि कला और दर्शन आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रातिभ होते हैं ? डा. नन्दकिशोर तथा डा. भटनागर का प्रश्न था कि तर्क दार्शनिक प्रातिभ में अन्तरंग होता है या कि वह उससे पृथक् होता है और उसे बाह्यतः अपना विषय बनाता है ?

मैंने इसका उत्तर देते हुए कहा कि कला, विज्ञान, दर्शन आदि में प्रातिभ भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, बल्कि विभिन्न कलाओं में भी उन-उनके अनुसार प्रातिभों में प्रकार-भेद होता है । अब, दार्शनिक प्रातिभ में तर्क उसका अंतरंग होता है । यह अंतरंगता इस अर्थ में नहीं होती कि वह तर्कपूर्वक होता है, यह इस अर्थ में होती है कि वह तर्क द्वारा विवेच्य और प्रकाश्य होता है । इसके दो स्तर हो सकते हैं, एक आर्ष और दूसरा साधारण । इन दो में यह अन्तर कहा जा सकता है कि आर्ष प्रातिभ का विषय परमार्थ तत्त्व, जगत् और जीवन का संधारक मूल्य होता है और यह प्रातिभ अपेक्षाकृत स्पष्ट और अव्यवहित होता है । यह प्रतिभावान् :ऋषि: के लिए तर्क द्वारा प्रकाश्य नहीं होता, प्रकाश इसमें स्वरूपगत होता है । किन्तु साधारण प्रातिभ तर्क-सहचर होता है, इसका विषय सीमित और दर्शन अस्पष्ट होता है और तर्क से यह प्रमापक और प्रमेय उभय रूपों में सम्बन्धित होता है । उदाहरणतः नैतिकता, धर्म, कला, प्रत्यय (आइडिया) किसी भी विषय पर दार्शनिक विचार के लिए इनके तत्त्वों का एक

× यहां केवल एक गोष्ठी का ही विवरण दिया जा रहा है । इस गोष्ठी के बाद तीन गोष्ठियां और हुईं किन्तु उकके प्रवर्तक उनके विवरण लिखकर नहीं दे पाये ।

प्रत्यक्ष बोध आवश्यक है। यह बोध दार्शनिक प्रातिभ कहा जा सकता है। तर्क इसका अंगरंग होता है और जितना ही तर्क व्यक्त होता है उतना ही इस प्रातिभ का अर्थ प्रकाशित होता है। तर्क इस प्रातिभ की अनुसारिता से ही प्रामाणिकता पाता है और यह प्रातिभ तर्क से प्रमाणित हो कर ही युक्त प्रातिभ बनता है, अन्यथा वह अप्रमाणित हो जाता है। आर्ष प्रातिभ में ऐसा नहीं होता, किन्तु दार्शनिक के लिए वह यही रूप लेता है। अब दार्शनिक इस प्रातिभ में सहभागी भी हो सकता है और केवल इसके तर्कानुमेय रूप का ग्राहक भी हो सकता है। प्रथम स्थिति होने पर दार्शनिक तर्क अधिक विश्वासप्रद और फलप्रद प्रतीत होता है, दूसरी स्थिति में वह क्रीड़ा का सुख तो देता है किन्तु फलवत्ता का सुख नहीं देता।

इस विचार-क्रम में डा. सरला कल्ला ने प्रश्न उठाया था कि क्या प्रातिभ तर्क का प्रमाणीकरण करता है? डा. सरल झिंगरन ने प्रश्न उठाया था कि प्रातिभ तर्क का उत्तरवर्ती होता है या कि पूर्ववर्ती? इनमें प्रथम का मेरा उत्तर था कि प्रातिभ और प्रमाणीकरण का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा तार्किक प्रत्यक्षवाद (लोजीकल पोज़िटिविज्म) में शब्दार्थ और प्रत्यक्ष का। दूसरे प्रश्न का उत्तर था कि आर्ष प्रातिभ तर्कानुगामी नहीं होता, वह उससे स्वतंत्र होता है, यद्यपि तर्क उसमें अस्फुटतः रहता है। (यहां मैं जोड़ूंगा, जैसे भ्रूण में प्राणी के अंग रहते हैं। यहां यह भी जोड़ना चाहूंगा कि दार्शनिक प्रातिभ तर्क-सहचर होता है, इस अर्थ में यह तर्क प्रवण चेतना में ही घटित होता है, यद्यपि इसमें भी तर्क उसमें निहित अर्थ को विवेचित ही करता है।)

यहां डा. श्रीवास्तव ने प्रश्न किया कि हम देखते हैं कि प्रातिभ के दावों में परस्पर भेद और विरोध भी होता है, जैसे उपनिषद्, बुद्ध, महावीर, मुहम्मद, ईसा आदि सभी के साक्षात्कार के दावे हैं किन्तु उनमें भेद है। इस आपत्ति को आगे बढ़ाते हुए दया जी ने कहा कि मेरे प्रतिपादन से ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो प्रातिभ एक स्वतःप्रमाण और स्थिर उपलब्धि होती हो जबकि वास्तव में इसमें भी एक गति, उपलब्धि का एक क्रम होता है। दूसरे, इसमें नितांत भ्रांति भी हो सकती है। उदाहरणतः बहुत बार कोई कवि, चित्रकार या भक्त समझता है कि वह बड़ा साक्षात्कारी है किन्तु वास्तव में वह बिल्कुल बोगस होता है। इन आपत्तियों के उत्तर में मैंने कहा कि मेरे प्रतिपादन में ऐसा कहीं आपादित नहीं है कि प्रातिभों में भेद और विरोध नहीं हो सकता और कि इनमें भ्रांति नहीं हो सकती। सर्वप्रथम, सत्य किन्तु भिन्न प्रातिभों, जैसे बुद्ध, महावीर और मुहम्मद के, सम्बन्ध में। मैं यह मानता हूं कि प्रातिभ व्यक्ति-भेद और परिवेश-भेद के अनुसार भिन्न होते हैं और इनमें चेतना के स्तर-भेद के अनुसार भी भेद होता है। जहां तक भ्रांति का प्रश्न है, वह भी संभव है। प्रातिभ तो दूर की बात है मैंने तो एक स्थान पर लिखा है कि हमें प्रेम जैसी अनुभूति तक को समझने में भ्रांति हो सकती है : कोई अपने को किसी के प्रति नितांत प्रेम-परायण समझ सकता है जबकि वास्तव में वह उससे प्रेम नहीं करता होता। यहां प्रातिभ या प्रेम की प्रामाणिकता को समझने में एक सीमा तक तर्क-बुद्धि नकारात्मक रूप में सहायक हो सकती है और हमें अन्तःसाक्ष्य तक पहुंचा सकती है, यद्यपि प्रमाण अन्तःसाक्ष्य से ही आता है। इसके अनन्तर दयाजी का आक्षेप था कि तर्क का अपना एक स्वायत्त क्षेत्र भी होता है और उसमें उसकी अपनी सफलताएं और उपलब्धियां होती हैं। इस पर मेरा उत्तर था कि निश्चय ही होती हैं, किन्तु दर्शन के

लिए तर्क केवल उपकरण मात्र होता है, उपकार्य नहीं। दर्शन के विषय तत्त्व होते हैं जो तर्क द्वारा विवेच्य और प्रकाश्य होते हैं।

इसके अनन्तर मैंने तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा कि तर्क को प्रायः द्वन्द्वात्मक विकल्प के रूप में ही देखा जाता है जिसमें प्रतिज्ञा प्रतिप्रतिज्ञाओं की व्यावर्तक होती है। नागार्जुन ने भी इसे इसी रूप में देखा है। किन्तु मैं समझता हूं कि यह तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रांत धारणा है। व्यावर्तकता को वास्तव में अवयवी की अन्तर्विभक्ति के रूप में देखना चाहिए जिसमें विकल्प का एक पक्ष अनिवार्यतः प्रतिपक्ष का अपेक्षी और उससे प्रकाशित रहता है। हेगल ने द्वन्द्वात्मकता में जो प्रतिज्ञा, प्रतिप्रतिज्ञा और संप्रतिज्ञा की प्रक्रिया देखी है उसे इस प्रकार देखना चाहिए कि विकल्पगत प्रतिज्ञा और प्रतिप्रतिज्ञा संप्रतिज्ञा में प्रतिष्ठित होती हैं और इस प्रकार दोनों परस्पर की अपेक्षी और प्रकाशक होती हैं।

इसके अनन्तर दया जी ने कहा कि हम लोग प्रस्तावना में ही उलझे रहे और समय समाप्त हो गया किन्तु प्रत्यय-परीक्षा पर भी विचार होना चाहिए था। तब उसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि "शल्य जी की युक्ति-परीक्षा में नागार्जुन की कोई महत्ता सम्मुख नहीं आती बल्कि उनकी युक्तियों का लचरपन ही दिखायी देता है। कुछ लोगों ने नागार्जुन की ब्रैड्ले से तुलना करते हुए उसकी जो अन्तर्दृष्टि दिखायी है उससे तो यही प्रतीत होता है कि वह एक बहुत महान् दार्शनिक था। इस पर मैंने कहा कि मुझे इस प्रकार की तुलनाओं के प्रति अश्रद्धा है। प्रोफेसर टी. आर. वी. मूर्ति ने भी नागार्जुन पर बृहद् ग्रंथ लिखा है और उसमें यह कहना कठिन है कि वह नागार्जुन पर लिखा है या कांट पर। नागार्जुन कांट और ब्रैड्ले के बिना ही नागार्जुन थे। अब देखने की बात यह है कि मैंने उनकी युक्तियों को सही प्रस्तुत किया है या नहीं और दूसरे, मेरी युक्तियों में कोई बल है या नहीं। अन्यों ने युक्तियों की परीक्षा नहीं कर उनकी संरचना अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत की बात की है और उसमें अपनी कल्पनाओं के आरोप किये हैं। उनके सिद्धान्त के सम्बन्ध में मैंने पुस्तक में दो अध्याय पृथक् लिखे हैं। वहां मैंने उनके सिद्धान्त को शून्यता और निष्प्रपंचता का प्रतिपादन ही स्वीकार करते हुए न तो इसे आधुनिक व्याख्याकारों के समान किसी अतिक्रांत अखंड भाव, समग्र सत् की अनभिलाप्यता का वाचक दिखाने का प्रयत्न किया है और न ही बहुत से प्राचीन दार्शनिकों के समान उच्छेदवादी कह कर उपेक्षणीय दिखाया है। वहां हमने शून्यता का अर्थ निरपेक्ष अभाव ही लेते हुए देखने का प्रयत्न किया है कि इस दृष्टि का क्या औचित्य हो सकता है। जहां तक युक्तियों के खंडन का प्रश्न है, उसे भी नागार्जुन की महत्त्व-हीनता के द्योतक के रूप में नहीं लेना चाहिए। उनकी युक्तियां वास्तव में सारे भारतीय दर्शन की ही युक्ति-विधि की प्रतिनिधि हैं। इस पर दयाजी ने कहा कि तब इसका अर्थ होगा कि सारे भारतीय दर्शन में ही लचर युक्तियां दी गई हैं, जो कि न सही है और न आप ही ऐसा स्वीकार करते हैं। इसके उत्तर में मैंने कहा कि नहीं, इन युक्तियों में वैसी कोई निर्बलता नहीं है। दार्शनिक लोग प्रायः युक्तियों को एक सीमित संदर्भ में और किसी पूर्वगृहीत आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु दर्शन की यह विशेषता है कि उसके लिए न कोई सन्दर्भ-सीमा स्वीकार्य होती है और न कोई आधार स्वतःसिद्ध रूप में स्वीकार्य होता है। मैंने दर्शन की इस निर्बाधता का सहारा लेते हुए ऐसे प्रति-उदाहरण दे दिये हैं जिन पर वे

युक्तियां लागू नहीं होतीं। उदाहरणतः कारणता के प्रसंग में नागार्जुन ने जो उदाहरण दिये हैं दार्शनिक वे ही उदाहरण देते हैं किन्तु मैंने सर्वथा भिन्न प्रकार के उदाहरण दे डाले हैं। इसी प्रकार गति के निषेध में उन्होंने देश, काल की जिस अवधारणा को आधार बनाया है वही प्रायः सर्वस्वीकृत आधार है। जेनो की युक्ति भी उसी आधार पर है और बर्ट्रेंड रसल पर्यन्त उस युक्ति से उसी आधार पर जूझने का प्रयत्न देखा जाता है, किन्तु मैंने उस आधार ही को चुनौती दी है। अब, इससे नागार्जुन की लघुता प्रकट नहीं होती, उसकी महत्ता-लघुता उसके युक्ति-निर्माण में है और मैंने उस पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया है। मैंने उसके महत्त्व की गुरुता-लघुता का विचार छोड़ कर युक्तियों की उपर्युक्त विधि से परीक्षा करते हुए उनकी अयुक्तता दिखायी है। ऐसा करते हुए मेरा संदेह निरन्तर बना रहा कि कहीं मैं उनकी युक्तियों को समझने में पूर्णतः भ्रम में तो नहीं हूं? क्योंकि मेरा शास्त्र-ज्ञान बहुत क्षीण है।

यहां दयाजी की एक और आपत्ति का उल्लेख स्थाने होगा जो उन्होंने इस गोष्ठी से पृथक् एक व्यक्तिगत चर्चा में उठाई थी। उन्होंने मेरी गति-विषयक युक्ति को लक्षित करते हुए कहा कि नागार्जुन के विरुद्ध मेरी युक्ति वैसी ही है जैसी मूर की थी कि "यह मेरा दायां हाथ है और यह बायां और यह तथ्य असंदिग्ध रूप से प्रदत्त है। इसलिए बाह्य विषयों का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है।" दयाजी की यह आपत्ति एक सीमा तक सही थी, किन्तु मूर का दोष यह था कि वह एक ओर संवेद-प्रदत्त-परक सिद्धान्त को भी छोड़ना नहीं चाहता था, दूसरी ओर अपने उदाहरण से आपादित कर रहा था कि अंतिम विश्लेषण में बाह्य विषय इन्द्रियगम्य विषय नहीं हैं। अब, पार्यन्तिक रूप से इन्द्रियगम्य विषय तो संवेद-प्रदत्त ही हैं, बाह्य विषय तो प्रत्यक्ष और अध्यवसाय के संयुक्त फल, अथवा कहें प्रत्यक्षाध्यवसायात्मक, हैं।[3] मूर यह सब स्वीकार करने को तैयार नहीं था इसलिए उसकी यह नाटकीय युक्ति[4] मेरी युक्ति से तुलनीय नहीं है।

इसके अनन्तर डॉ. के. एल. शर्मा ने उन्मीलन के जुलाई १६८६ के अंक में प्रकाशित प्रोफेसर द्राविड़ द्वारा लिखी गई इस पुस्तक की समीक्षा पर मेरी प्रतिक्रिया जाननी चाही। इस समीक्षा पर अपनी सामान्य प्रतिक्रिया देते हुए मैंने कहा कि जैसाकि मैंने अभी कहा था, मुझे नागार्जुन की युक्तियों की अपनी समझ पर पूरा भरोसा नहीं था, यह भी एक कारण था कि मैंने द्राविड़ जी को यह पुस्तक समीक्षा के लिए भिजवायी। यह मुझे पता था कि वे मेरी युक्तियों को स्वीकार नहीं करेंगे, किन्तु मैं यह देखना चाहता था कि वे नागार्जुन की युक्तियों की मेरी समझ को स्वीकार करते हैं या नहीं? उनकी समीक्षा से यह स्पष्ट है कि उन्होंने मेरी इस समझ पर कोई आपत्ति नहीं उठायी है। किन्तु उन्होंने मेरी युक्तियों का प्रतिवाद करने का प्रयत्न किया है। किन्तु इस खंडन में उन्होंने ऐसी स्थूल भूलें की हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य होना है। उन्होंने मेरी दो युक्तियों की परीक्षा को उदाहरण स्वरूप लिया है। किन्तु उसके पहले वे नागार्जुन के इस प्रसिद्ध कथन का उल्लेख करते हैं कि उनकी अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं है। वे कहते : "माध्यमिकों की अपनी कोई स्वतंत्र प्रतिज्ञा या प्रतिपाद्य नहीं है। विभिन्न मतों की

3. द्रष्टव्य यशदेव शल्य सत्ताविषयक अन्वीक्षा में अध्याय।
4. मूर ने व्याख्यान देते हुए हाथ उठाकर प्रदर्शन किया था।

परस्पर विरोधी भूमिकाओं की सहायता लेकर ही माध्यमिक अन्य मतों की सदोषता प्रदर्शित करते हैं। जैसे न्याय का खंडन सांख्य मतानुसार, सांख्य का न्यायमतानुसार, इनके समुच्चय का खंडन इनकी परस्पर विरुद्धता के आधार पर....।" (१५८) अब, यदि अपनी प्रतिज्ञा नहीं होने का यह अर्थ हो तो इससे बड़ा निरर्थक प्रयत्न क्या हो सकता है? सर्वप्रथम, कोई दो मत प्रतिप्रतिज्ञात्व के निश्शेषक नहीं हो सकते, तीसरी, चौथी, पांचवीं प्रकार की प्रतिज्ञाएं भी हो सकती हैं जो इन दोनों प्रतिज्ञाओं की प्रति-प्रतिज्ञाएं हों। दूसरे, यदि ये दोनों मत परस्पर का खंडन कर पाये होते तो ये स्वयं ही अपने तंबू उठा ले गए होते। ये दोनों मत अपने-अपने तंबू गाड़े हुए हैं इसीसे सिद्ध है कि ये परस्पर खंडन नहीं कर पाते। आगे द्राविड़ जी ने समुच्चय और उसकी घटक प्रतिज्ञाओं की परस्पर विरुद्धता से खंडन की जो बात कही है वह तो और भी अबूझ है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध का समुच्चय दोनों का उच्चतर स्तर पर संश्लेष होगा, क्योंकि वह दोनों की विरुद्धता का उनके अतिक्रमण में समाहार करके ही उनका समुच्चय हो सकता है। द्राविड़ जी ने यदि अपने कथन का कोई उदाहरण सोचा होता तो वे ऐसा कथन नहीं करते। द्रष्टव्य है कि माध्यमिक वस्तु की शून्यता का प्रतिपादन करते हैं और वैसा वे वस्तु-स्वरूप की अन्तर्विरुद्धता दिखाकर ही कर सकते हैं न कि वस्तुस्वरूप-विषयक किन्हीं दो विरोधी मतों की परस्पर विरुद्धता दिखाकर।

इसके बाद द्राविड़ जी प्रत्यय-परीक्षा विषयक मेरी युक्तियों पर आते हैं। मेरी युक्ति के दो स्तर हैं। एक तो मैंने उनकी युक्ति की अव्यापकता दिखाने के लिए ऐसे उदाहरण दिये हैं जिन पर उनकी युक्ति लागू नहीं होती और दूसरे उन आधारों को पूर्वगृहीत मात्र दिखाया है जिन पर उन्होंने अपनी युक्ति प्रतिष्ठित की है। द्राविड़ जी ने पृष्ठ १५६ पर जो उद्धरण दिया है वह इस दूसरे स्तर से ही सम्बन्धित है। मैंने यहां आपत्ति की है कि दार्शनिकों ने अधिकांशतः "कारण-कार्य" के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के उदाहरणों को एक ही प्रकार में संगृहीत कर दिया है। इस पर द्राविड़ जी कहते हैं "यह सही है कि ये उदाहरण एक जैसे नहीं हैं। यदि ये एक जैसे होते तो ये सब किसी एक कार्य-कारण-सिद्धान्त के अनुकूल होते। कोई भी सिद्धान्त अपने अनुकूल उदाहरण को निदर्श मानकर उसके आधार पर ही अन्य उदाहरणों को समझने का प्रयास करता है। जैसे दूध से दही बनने का उदाहरण सत्कार्यवाद के बहुत अनुकूल है और आघात से व्रण का उदाहरण उसके लगभग प्रतिकूल है। अतः सत्कार्यवाद के पुरस्कारक आघात से व्रण की उत्पत्ति को सत्कार्यवाद के ढाँचे में बैठाने का प्रयत्न करेंगे। जितने भिन्न उदाहरण उतनी भिन्न उपपत्तियां ऐसा कभी नहीं हो सकता।" किन्तु तब इसे अतिचार के अतिरिक्त और क्या नाम देना उपयुक्त हो सकता है? दार्शनिक को विभिन्न प्रकारों के लिए एक उपपत्ति तो तभी देनी चाहिए यदि उसे सचमुच, अनायास, प्रकट भेद के आधार में कोई वास्तविक अभेद दिखायी दे, न कि सैद्धान्तिक सौष्ठव के लिए यदृच्छया एक उदाहरण को निदर्श बनाकर दूसरों की काट-छांट करनी चाहिए? आगे द्राविड़जी ने मेरी अन्य युक्तियों पर नागार्जुन की ओर से जो स्पष्टीकरण दिये हैं उन पर यहां मैं कुछ नहीं कहूंगा, सिवाय इसके कि वे दुर्बल हैं यद्यपि उपर्युक्त जैसे रीढ़-हीन नहीं हैं।

इसके बाद द्राविड़ जी गति, गन्ता और गन्तव्य की शून्यता की प्रदर्शक नागार्जुन की युक्तियों पर मेरी आपत्ति पर विचार करते हुए प्रतिवाद में जो कहते हैं वह और भी आश्चर्यजनक है, क्योंकि ऐसी युक्ति दर्शन का कोई विद्यार्थी दे सकता है ऐसी हम आशा नहीं करते, द्राविड़ जी जैसे वरिष्ठ विद्वान से तो कैसे कर सकते हैं ? मैंने यहां अपनी युक्ति में नागार्जुन की युक्ति में पूर्वगृहीत आधार को चुनौती दी है । मैंने आपत्ति की है कि नागार्जुन द्वारा गति की शून्यता के प्रतिपादन का आधार देश-काल की असीमल्प : परमाणुपर्यंतः विभज्यता की अवधारणा है । किन्तु इस अवधारणा को स्वीकार करने के लिए क्या युक्ति है ? तब मैंने देश-काल की भिन्न अवधारणा के लिए युक्ति दी है जिनमें गति की प्रदत्तता ही मूल है । इस पर द्राविड़ जी लिखते हैं कि "देश को विभज्य मानने पर उसके विभाजन का अन्त या मर्यादा क्या होगी ?" मेरी युक्ति इसी के सम्बन्ध में है । किन्तु तब भी, इस प्रश्न में स्वयं में कोई दोष नहीं है । किन्तु इसके आगे वे कहते हैं कि "आज विज्ञान काल के इतने लघु परिमाण तक को मापित कर चुका है कि यह कुछ ही वर्ष पहले तक अकल्पनीय था । आगे यह और लघु मात्रा तक नहीं पहुँचेगा यह कैसे कहा जा सकता है ?" (१६१) अब, द्राविड़जी यहां यह नहीं देख पाते कि माप की कितनी भी लघु मात्रा हो उसका कोई परिमाण होगा ही, वह असीमल्प नहीं हो सकता । कोई विभाजन असीमल्प वैशेषिकीय परमाणु अथवा बौद्ध क्षण तक नहीं पहुँच सकता । यह मर्यादा भौतिक विभाजन की अवधारणा में तर्कतः निहित है । और देश-काल के परमाणविक हुए बिना वह युक्ति नहीं बन सकती जो नागार्जुन ने बनायी है । द्रष्टव्य है कि यह बात नागार्जुन और वैशेषिक आदि को स्पष्ट रूप से ज्ञात है । तब द्राविड़ जी जैसे विद्वान् और तर्क-पंडित ने वह किस प्रकार नहीं देखी यह समझ में नहीं आया ।

यशदेव शल्य

वर्ष ६, अंक १ जनवरी १९९०

विषय सूची

१.	भाषा और अनुभूति	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	१
२.	मूल्य की वस्तुतंत्रता	यशदेव शल्य	१३
३.	गुणविचार : शाब्दिकों के दर्शन के सन्दर्भ में	देवेन्द्रनाथ तिवारी	२६
४.	संस्कृति और भारतीय धर्म-संस्कृति	हर्षनारायण	४३
५.	**पुस्तक समीक्षा**		
	यशदेव शल्यकृत **सत्ताविषयक अन्वीक्षा**	राजेन्द्रप्रसाद पांडेय	५९
६.	उन्मीलन-गोष्ठियों के विवरण	यशदेव शल्य	६५

यह अंक मुख्यतः भारत भवन भोपाल से प्राप्त अनुदान की राशि से प्रकाशित हो रहा है। अनुदान देने के लिए हम भवन के अधिकारियों, विशेषतः उसके तत्कालीन सचिव श्री अशोक वाजपेयी के प्रति आभारी हैं।

वार्षिक शुल्क ३०-००
संस्थाओं के लिए ५०-००

आजीवन सदस्यता शुल्क ३००-००
संस्थाओं के लिए २०००-००

दर्शन प्रतिष्ठान

दर्शन प्रतिष्ठान, पी-५१, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर की ओर से यशदेव शल्य द्वारा संपादित, एवं प्रकाशित तथा जेक प्रिंटर्स, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर से मुद्रित।